

**178076**





# PATANJALA-DARSHANAM.

With gloss 'Muni-phabha'

OF

RI RAMANANDA YATI.

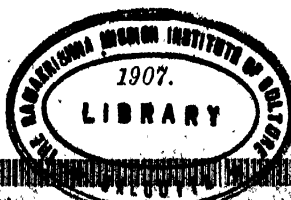
EDITED AND PUBLISHED BY

PANDIT ASHU BODHA VIDYABHUSHANA.



CALCUTTA.

PRINTED AT THE GOBARDHAN PRESS



To be had of:—Pandit Ramananda Vidyasagara. B. A.  
Superintendent, Free Sanskrit College.  
Ramanatha Majumdar's Street, Harrison Road P.O., Calcutta.

|              |                          |
|--------------|--------------------------|
| RMIC LIBRARY |                          |
| Acc No:      | 178076                   |
| Class No     | 181 <sup>45</sup><br>PAT |
| Date         | 29.11.95                 |
| St. Card     | hph                      |
| Class        | Day                      |
| Ext          | ✓                        |
| Rt Card      | Ly                       |
| Checked      | AD                       |

# पातञ्जलदर्शनम् ।

श्रीरामानन्दयतिकृत मणिप्रभाख्यवृत्तिसहितम् ।

पण्डितकुलपति-

श्रीमज्जीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यात्मजेन

पण्डित श्रीआशुबोध विद्याभूषणभट्टाचार्य्येण

संस्कृतं प्रकाशितञ्च ।



कलिकातानगर्याम्

गोवर्द्धनयन्त्रे

मुद्रितम् ।

इ. १८०७ ।

প্রকাশক—পণ্ডিত শ্রীআশুতোষ বিদ্যভূষণ ।

২ নং রমানাথ মজুমদারের ষ্ট্রীট, কলিকাতা ।

প্রিন্টার—শ্রীগোবর্দন পান,

৪৩ নং কটন ষ্ট্রীট, কলিকাতা ।



Prof. Ashubodha Vidyabhushana





## पातञ्जलदर्शनस्य विषयसूची ।

### समाधिपादः ।

| विषयः  | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|--|--------------|---------|
| योगशास्त्रोपक्रमः                              | १            | १०      |
| योगस्य साधारणलक्षणम्                           | २            | १२      |
| वृत्तिनिरोधे चितः केवलस्वरूपावस्थानम्          | ३            | १५      |
| व्युत्थाने चितो वृत्तितादात्म्यम्              | ३            | २२      |
| पञ्चधा वृत्तिनिरूपणम्                          | ४            | ६       |
| पञ्चवृत्तीनां नामानि                           | ४            | २५      |
| प्रमाणवृत्तिलक्षणम् विभागलक्षणञ्च              | ५            | ३       |
| विपर्ययलक्षणम्                                 | ५            | १८      |
| विकल्पलक्षणम्                                  | ६            | २       |
| निद्रालक्षणम्                                  | ६            | ११      |
| स्मृतिलक्षणम्                                  | ६            | २२      |
| वृत्तिनिरोधोपायः                               | ७            | ८       |
| अभ्यासलक्षणम्                                  | ७            | १६      |
| अभ्यासस्य दृढसंस्कारनिरूपणम्                   | ७            | २२      |
| वैराग्यलक्षणम्                                 | ८            | ६       |
| परवैराग्यलक्षणम्                               | ८            | १८      |
| संप्रज्ञातसमाधेर्विभागलक्षणनिर्देशः            | ८            | ११      |
| असंप्रज्ञातसमाधिस्वरूपोक्तिः                   | १०           | ८       |
| असंप्रज्ञातावान्तरविशेषभवप्रत्ययाधिकारनिर्देशः | १०           | १६      |
| तवदान्तरविशेषोपायप्रत्ययाधिकारः                | ११           | ८       |

| विषयः   | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|---|--------------|---------|
| तीव्रसंवेगफलम् ...                              | ११           | २२      |
| तस्य मृदादिभेदेन विशेषत्वम्                     | १२           | १       |
| ईश्वराराधनस्यापि निरोधसमाधुपायावेशः             | १२           | ६       |
| ईश्वरस्वरूपनिर्णयः ...                          | १२           | १२      |
| ईश्वरस्य सर्वज्ञत्व निरूपणम् ...                | १३           | १५      |
| ईश्वरस्य सर्वप्राधान्यम् ...                    | १४           | ८       |
| ईश्वरवाचककथनम् ...                              | १४           | १५      |
| ईश्वरप्रणिधानवर्णनम् ...                        | १५           | ८       |
| तत्प्रणिधानफलम् ...                             | १५           | १६      |
| तस्यान्तरायाः ...                               | १६           | २       |
| तेषां दुःखाकरत्वम् ...                          | १६           | १७      |
| तदपसारणप्रकारनिर्देशः ...                       | १७           | ५       |
| चित्तप्रसादनप्रकाराः ...                        | १७           | १२      |
| प्रसन्नचित्तस्य स्थिरत्वोपायाः ...              | १८           | १       |
| उपायान्तरम् ...                                 | १८           | १०      |
| चित्तस्थैर्यावान्तरफलम् ...                     | १८           | १८      |
| वीतरागविषयत्वं चित्तस्य ...                     | १८           | ५       |
| स्वप्ननिद्राधारत्व कथनम् चित्तस्य               | १८           | ८       |
| अभीष्टध्यानावतारः ...                           | १८           | १३      |
| चित्तस्थितेर्ज्ञापकम् ...                       | १८           | १८      |
| लब्धस्थितिकस्य चित्तस्य समापत्तिस्वरूपावतारः २० |              | ३       |
| सवितर्कासमापत्तिलक्षणम् ...                     | २०           | २१      |
| निर्वितर्कासमापत्तिलक्षणम् ...                  | २१           | १२      |
| सविचारानिर्विचारासमापत्तिलक्षणम्                | २२           | ५       |
| सूक्ष्मविषयत्वावधिनिरूपणम् ...                  | २२           | १८      |

| वषय  | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|--|--------------|---------|
| समापत्तीनां संप्रज्ञातसमाधिप्रकारः ...                     | २३           | ११      |
| अध्यात्मप्रसादकथनम् ...                                    | २३           | १८      |
| ऋतम्भराप्रज्ञानिर्देशः ...                                 | २३           | २४      |
| तस्या विशेषविषयत्वनिरूपणम् ...                             | २४           | ५       |
| निर्विचारासमापत्तिसंस्काराणां स्वेतर-<br>संस्कारविरोधः ... | २५           | ३       |
| निर्वीजसमाधिसमयाकारनिर्णयः                                 | २५           | १४      |

### साधनपादः ।

|  |    |    |
|--|----|----|
| क्रियायोगाकारनिर्देशः ...                  | २६ | १२ |
| क्रियायोगफलम् ...                          | २६ | २१ |
| पञ्चक्लेशनिरूपणम् ...                      | २७ | ६  |
| क्लेशानामविद्योद्भवत्वम् ...               | २७ | १० |
| अविद्यालक्षणम् ...                         | २८ | १  |
| अस्मितानिरूपणम् ...                        | २८ | १६ |
| रागनिर्णयः ...                             | २८ | २३ |
| द्वेषनिर्णयः ...                           | २८ | ४  |
| अभिनिवेशप्रकाशः ...                        | २८ | ७  |
| सूक्ष्मक्लेशहानोपायः ...                   | ३० | ४  |
| तत्र स्थूलानां हानोपायः ...                | ३० | ८  |
| कर्माशयस्य क्लेशमूलत्वनिरूपणम्             | ३० | १८ |
| कर्माशयोविपाककथनम् ...                     | ३१ | ८  |
| विपाकफलम् ...                              | ३१ | २३ |
| विचारदुःखात्मकत्वात् सुखस्यापि हेयत्वकथनम् | ३२ | ६  |
| अनागतदुःखस्य हेयत्वम् ...                  | ३३ | १३ |

| विषयः   | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|---|--------------|---------|
| हेयहेतुप्रकाशः                                | ३३           | १७      |
| दृश्यनिरूपणम्                                 | ३४           | २       |
| तदवान्तरविभागोद्देशः                          | ३४           | १६      |
| द्रष्टृनिरूपणम्                               | ३५           | ७       |
| दृश्यद्रष्टोः अङ्गाङ्गिभावः                   | ३५           | १३      |
| मुक्तोत्तरसम्बन्धात् दृश्यस्यानादित्वनिर्देशः | ३५           | १८      |
| संयोगनिरूपणम्                                 | ३६           | ७       |
| संयोगहेतुनिर्देशः                             | ३६           | १७      |
| ज्ञानात् कैवल्यनिवेशः                         | ३७           | ४       |
| मोक्षहेतुनिर्देशः                             | ३७           | १०      |
| जीवन्मुक्तस्य सप्तधाज्ञानवैभवकथनम्            | ३७           | २०      |
| प्रज्ञासाधनकथनम्                              | ३८           | १८      |
| योगाङ्गाष्टकनिर्णयः                           | ३८           | २       |
| पञ्चयमाः                                      | ३८           | ८       |
| सार्वभौममहाव्रतकथनम्                          | ३८           | २०      |
| नियमनिर्देशः                                  | ४०           | ८       |
| वितर्कादिसु प्रतिपक्षभावनम्                   | ४०           | २०      |
| वितर्कादिस्वरूपनिरूपणम्                       | ४१           | ६       |
| अहिंसोपकारः                                   | ४२           | ४       |
| सत्यफलनिर्देशः                                | ४२           | ८       |
| अस्तेयफलनिर्णयः                               | ४२           | १३      |
| ब्रह्मचर्याङ्गूतैष्टिसिद्धयः                  | ४२           | १६      |
| स्थिरेऽपरिग्रहे त्रिकालज्ञानम्                | ४२           | २०      |
| नियमसिद्धिकथनम्                               | ४३           | ७       |
| अन्तःशौचसिद्धिनिरूपणम्                        | ४३           | १३      |

| विषयः                           | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|---------------------------------|--------------|---------|
| अनुत्तमसौख्यसिद्धिः ...         | ४३           | १८      |
| तपः सिद्धयः ...                 | ४४           | १       |
| इष्टदेवसम्भाषणसिद्धिकथनम् • ... | ४४           | ४       |
| समाधिसिद्धिकथनम् ...            | ४४           | ६       |
| आसननिरूपणम् ...                 | ४४           | १८      |
| आसनस्थैर्यकथनम् ...             | ४५           | ४       |
| आसनफलसिद्धिः ...                | ४५           | १०      |
| प्राणायामस्य सामान्यलक्षणम् ... | ४५           | १३      |
| चतुर्विधप्राणायामवर्णनम् ...    | ४५           | १८      |
| चतुर्थप्राणायामप्रदर्शनम् ...   | ४६           | २०      |
| प्राणायामफलम् ...               | ४७           | ५       |
| धारणालक्षणनिर्देशः ...          | ४७           | ८       |
| निरुद्धेन्द्रियप्रत्याहारः ...  | ४७           | १४      |
| इन्द्रियवशीकारकथनम् ...         | ४८           | २       |

### विभूतिपादः ।

|  |    |    |
|--|----|----|
| धारणानिर्णयः ...                       | ४८ | २० |
| ध्याननिरूपणम् ...                      | ४८ | १६ |
| समाधिनिरूपणम् ...                      | ४८ | २४ |
| धारणादिन्याणां संयमसंज्ञाकथनम्         | ५० | १० |
| संयमफलम् ...                           | ५० | १३ |
| संयमभूमिनिर्णयः ...                    | ५० | १८ |
| धारणाद्यन्तरङ्गत्वम् ...               | ५१ | १  |
| एषामेव निर्वीजवह्निरङ्गत्वनिर्देशः ... | ५१ | ७  |
| संयमपंरिणामप्रदर्शनम् ...              | ५१ | १५ |

| विषयः                                  | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|--|--------------|---------|
| प्रशान्तचित्तस्य निरोधस्थिरत्वनिर्देशः | ५२           | २       |
| समाधिपरिणामकथनम् ...                   | ५२           | ८       |
| चित्तैकाग्रतापरिणामलक्षणम् ' ...       | ५२           | १५      |
| धर्मादित्यपरिणामोद्घोषः ...            | ५३           | १       |
| त्रिविधपरिणामानुबन्धिधर्मिलक्षणम्      | ५३           | २१      |
| क्रमान्यत्वे परिणामान्यत्वकथनम्        | ५४           | ११      |
| अतीतानागतज्ञानकथनम् ...                | ५५           | ८       |
| सर्वभूतरुतज्ञानकथनम् ...               | ५५           | १४      |
| पूर्वजन्मज्ञानकथनम् ...                | ५७           | १       |
| परचित्तज्ञानकथनम् ...                  | ५७           | २१      |
| साक्षात्कृतौ तद्विषयसाक्षात्कारः       | ५७           | २३      |
| कायरूपसंयमसिद्धिः ...                  | ५८           | १४      |
| मरणज्ञाननिरूपणम् ...                   | ५८           | २२      |
| मैत्र्यादिवलकथनम् ...                  | ५८           | १७      |
| बलसंयमफलनिर्देशः ...                   | ५८           | २२      |
| सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ...    | ६०           | १       |
| चतुर्दशभुवनज्ञानम् ...                 | ६०           | १०      |
| ताराव्यूहज्ञानम् ...                   | ६०           | १४      |
| तद्गतिविज्ञानम् ...                    | ६०           | १८      |
| कायव्यूहज्ञानकथनम् ...                 | ६०           | २२      |
| क्षुत्पिपासानिवृत्तिकथनम् ...          | ६१           | ५       |
| चित्तस्थैर्यसिद्धिः ...                | ६१           | ८       |
| सिद्धदर्शनकथनम् ...                    | ६१           | १२      |
| प्रातिभात् सर्वज्ञत्वम् ' ...          | ६१           | १६      |
| चित्तसम्बिज्ञानम् ...                  | ६२           | १       |

| विषयः                                    | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|--|--------------|---------|
| पुरुषज्ञाननिरूपणम् ...                   | ६२           | ४       |
| प्रातिभादीनां स्वार्थसंयमफलावतारः ...    | ६२           | १८      |
| पूर्वोक्तसिद्धीनां समाधौ प्रतिबन्धकत्वम् | ६३           | ५       |
| चित्तस्य परशरीरप्रवेशोपायकथनम् ..        | ६३           | १४      |
| उदानजयफलम् ...                           | ६४           | १       |
| समानजयफलम् ...                           | ६४           | १२      |
| दिव्यशब्दश्रवणोपायकथनम् ...              | ६४           | १६      |
| आकाशगमनोपायनिरूपणम् ...                  | ६४           | २१      |
| चित्तस्य क्लेशाद्यावरणक्षयोपायः ...      | ६५           | ४       |
| भूतजयकथनम् ...                           | ६५           | १२      |
| अग्निमादिसिद्धिसाधनोपायः ...             | ६५           | २४      |
| कायसम्पद्दर्शनम् ...                     | ६६           | १०      |
| इन्द्रियजयप्रकारः ...                    | ६६           | १५      |
| तत्फलम् ...                              | ६७           | १       |
| सर्वज्ञतासिद्धोपायः ...                  | ६७           | १४      |
| धैराग्यात् कैवल्यसिद्धिकथनम् ...         | ६७           | २२      |
| विघ्ननिराकरणोपायकथनम् ...                | ६८           | ६       |
| अन्यविधविवेकज्ञाननिरूपणम् ...            | ६८           | ११      |
| विवेकज्ञानोद्भवासूक्ष्मविषयविशेषाः       | ६८           | २०      |
| सारकज्ञानलक्षणम् ...                     | ७०           | १३      |
| स्वपुरुषशुद्धिफलम् ...                   | ७१           | १       |

### कैवल्यपादः ।

|                                     |    |    |
|-------------------------------------|----|----|
| साङ्गकारणविशेषाः ...                | ७१ | २२ |
| आत्मान्तरपरिणतिप्रयोजकोक्तिनिर्देशः | ७२ | १२ |



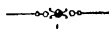
| विषयः                                  | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्ति |
|--|--------------|---------|
| अर्मादेः प्रकृतिप्रयोजकत्वाभावोद्बोधः  | ७२           | २       |
| निर्माणचित्तस्थितिः ...                | ७३           | १       |
| भोगानुकूलचित्तनिर्माणम् ...            | ७३           | १       |
| निर्मितचित्तस्य मोक्षयोग्यत्वम् ...    | ७३           | २       |
| कर्म्मविशेषाः ...                      | ७३           | २       |
| कर्म्मानुगुणवासनाविस्तारः ...          | ७४           | १       |
| व्यवायनिर्वन्धवासनानामप्यव्यवायोपहारः  | ७४           | २       |
| तासाम् अनादित्वप्रकारः ...             | ७५           | २       |
| अनादित्वेऽपि तासां समुच्छेदः           | ७६           |         |
| धर्माणां मार्गविशेषपरिणतिः ...         | ७६           | २       |
| धर्माणां गुणस्वरूपताभासः ...           | ७७           | १       |
| वस्तुगतैकत्वव्यवहारकारणकलापः           | ७८           |         |
| अर्थज्ञानभेदावभासः ...                 | ७८           | १       |
| अर्थस्य ज्ञानसहोद्भूतिरिस्कारः         | ७९           | १       |
| चित्तपरिणामित्वविभावनम् ...            | ८०           |         |
| आत्मनः परिणामित्वाभावः ...             | ८०           |         |
| चित्तस्य स्वाभासत्वाभावः ...           | ८०           | १       |
| चित्तस्य स्वयं प्रकाशत्वे दोषोद्बोधः   | ८१           |         |
| चित्तान्तरदृश्यत्वे च चित्तविशेषदोषः   | ८१           |         |
| अपरिणतायाऽपि चित्तेः स्वबुद्धिसंवेदनम् | ८२           |         |
| चित्ते सर्वार्थत्वस्य उपाधिकतानिर्देशः | ८३           |         |
| चित्तव्यतिरिक्तचेतने कारणान्तरम्       | ८३           |         |
| आत्मज्ञानाधिकारिनिर्णयः ...            | ८४           |         |
| अधिकारिणः चित्तस्वरूपनिर्णयः           | ८४           |         |
| —चित्तः कल्पितचित्तत्वे कारणम्         | ८५           |         |

| विषयः                                   | पृष्ठाङ्कस्य | पङ्क्तौ |
|---|--------------|---------|
| ज्ञानिनो व्युत्थितचित्तत्वनिराकरणावतारः | ८५           | १५      |
| परवैराग्योदयात् प्रसंख्यानं निरोधः ...  | ८६           | १       |
| धर्ममेधात् समूलक्लेशनिवृत्तिः ...       | ८६           | १२      |
| धर्ममेधसमये मनोवस्थानिरूपणम्            | ८६           | १५      |
| समाप्तगुणपरिणतिक्रमः ...                | ८७           | ११      |
| क्रमलक्षणकथनम् ...                      | ८७           | २०      |
| कैवल्यस्वरूपनिर्देशः ...                | ८८           | ४       |

---



# सूत्राक्षरक्रमसूची ।



अ

|  | पा० | सू० | पृ० | पं०   |
|--|-----|-----|-----|-------|
| प्रतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्वर्माणाम् ।    | ४   | १२  | ७६  | २०    |
| पथ योगानुशासनम् ।                                  | १   | १   | १   | ८     |
| प्रित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-         |     |     |     |       |
| स्यातिरविद्या ।                                    | ... | २   | ५   | २८ १  |
| प्रभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।                     |     | १११ | ६   | २२    |
| परिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।                |     | २३८ | ४२  | २०    |
| प्रभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।              |     | ११० | ६   | ११    |
| प्रभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।                  |     | ११२ | ७   | ८     |
| प्रविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ।   | २   | ३   | २७  | ६     |
| प्रविद्या क्षेत्तमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो- |     |     |     |       |
| दाराणाम् ।   | ... | २   | ४   | २७ १० |
| प्रस्तोयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।           |     | २३७ | ४२  | १३    |
| प्रहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।        |     | २३५ | ४२  | ४     |
| प्रहिंसासत्यास्ते यन्नक्षत्रार्थापरिग्रहा यमाः ।   |     | २३० | ३८  | ८     |

इ

|                     |     |    |   |  |
|---------------------|-----|----|---|--|
| इन्द्रप्रविधानाहा । | १२३ | १२ | ६ |  |
|---------------------|-----|----|---|--|

उ

|                                |     |     |    |   |
|--------------------------------|-----|-----|----|---|
| उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग |     |     |    |   |
| उत्क्रान्तिश्च ।               | ... | ३३८ | ६४ | १ |

( ख )

ऋ

|                        |        |         |
|------------------------|--------|---------|
|                        | १० सू० | पृ० पं० |
| ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । | १ ४८   | २३ २४   |

ए

|   |      |      |
|---|------|------|
| एकसमये चोभयानवधारणम् ।  | ४ २० | ८१ ८ |
| एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया<br>व्याख्याता । ...     | १ ४४ | २२ ५ |
| एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा<br>व्याख्याताः । ... | ३ १३ | ५३ १ |

क

|  |      |       |
|--|------|-------|
| कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।   | ३ ३० | ६१ ५  |
| कर्माशुक्लाक्लृणां योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।                                       | ४ ७  | ७३ २४ |
| कार्यरूपसंयमात् तदग्राह्यशक्तिस्तन्मे चक्षुः-<br>प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् । ... | ३ २१ | ५८ १४ |
| कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात्तुलसमा-<br>पत्तेश्चाकाशगमनम् । ...                        | ३ ४२ | ६४ २१ |
| कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिचयान्तपसः ।  | २ ४३ | ४४ १  |
| कूर्मनाडां स्थैर्यम् । ...   | ३ ३१ | ६१ ८  |
| कृतार्थं प्रतिनष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।                                    | २ २२ | ३५ १८ |
| क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।  | ३ १५ | ५४ ११ |
| क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष<br>ईश्वरः । ...                            | १ २४ | १२ १२ |
| क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।  | २ १२ | ३० १८ |
| क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ।  | ३ ५२ | ६८ ११ |
| क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।                                    | ४ ३३ | ८७ २० |

( ग )

पा० सू० पृ० पं०

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्यहीटग्रहणयाद्येषु

तत्स्थितदञ्जनता समापत्तिः । ... १ ४१ २० ३

ग

ग्रहणस्वरूपास्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादि-

न्द्रियजयः । ... ३ ४७ ६६ १५

च

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।

३ २७ ६० १४

चित्तेरप्रतिसङ्गमायास्तदाकारताऽऽपत्तौ-

स्वबुद्धिसंवेदनम् । ... ४ २२ ८२ १४

चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः

स्मृतिसङ्करश्च । ... ४ २१ ८१ २४

ज

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।

४ १ ७१ २२

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-

संस्कारयोरेकरूपत्वात् । ... ४ ८ ७४ २३

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा

महाव्रतम् । ... २ ३१ ३८ २०

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदे तुल्ययोस्ततः

प्रतिपत्तिः । ... ३ ५३ ६८ २०

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।

४ २ ७२ १२

त

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारिभ्यः ।

४ २७ ८५ ८

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धो ।

१ ५० २५ ३

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

... १ २८ १५ ८

( घ )

|  | पा० सू० | पृ० पं० |
|--|---------|---------|
| तज्जगत्प्रज्ञाऽऽलोकः ।   | ३ ५     | ५० १३   |
| ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्ति-<br>गुणानाम् । ...             | ४ ३२    | ८७ ११   |
| ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।   | ४ ३०    | ८६ १२   |
| ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।                                       | २ ५२    | ४७ ५    |
| ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।                                    | २ ५५    | ४८ २    |
| ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।                        | १ २८    | १५ १६   |
| ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता<br>जायन्ते । ...        | ३ ३६    | ६२ १८   |
| ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति-<br>र्वसनानाम् । ...          | ४ ८     | ७४ १२   |
| ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्वर्म्मान-<br>भिघातश्च ...    | ३ ४५    | ६५ २४   |
| ततो हन्धानभिघातः ।   | २ ४८    | ४५ १०   |
| ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।                           | ३ ४८    | ६७ १    |
| तत्परं पुरुषस्यातेर्गुणवैट्णम् ।                                 | १ १६    | ८ १८    |
| तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।                                | १ ३२    | १७ ५    |
| तत्र ध्यानजमनाशयम् ।   | ४ ६     | ७३ २०   |
| तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञवीजम् ।                                      | १ २५    | १३ १५   |
| तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।                                    | ३ २     | ४८ १६   |
| तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का<br>समापत्तिः । ... | १ ४२    | २० २१   |
| तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।                                       | १ १३    | ७ १६    |
| तदपि वह्निरङ्गं निर्वीजस्य ।                                     | ३ ८     | ५१ ७    |
| तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।                     | २ २५    | ३७ ४    |

|  | पा० सू० | पृ० पं० |
|--|---------|---------|
| तदर्थे एव दृश्यस्यात्मा ।                                      | २ २१    | ३५ १३   |
| तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं<br>संहत्यकारित्वात् । ...   | ४ २४    | ८३ २०   |
| तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । .                              | १ ३     | ३ १५    |
| तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।                     | ४ २६    | ८४ २५   |
| तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्-<br>ज्ञेयमल्पम् । ... | ४ ३१    | ८६ १५   |
| तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।             | ४ १७    | ८० १    |
| तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।                  | ३ ३     | ४८ २४   |
| तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।                          | ३ ५०    | ६७ २२   |
| तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।                      | २ १     | २६ १२   |
| तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः<br>प्राणायामः । ...   | २ ४८    | ४५ १३   |
| तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।                               | ३ १०    | ५२ २    |
| तस्य भूमिषु विनियोगः ।   | ३ ६     | ५० १८   |
| तस्य वाचकः प्रणवः ।  | १ २७    | १४ १५   |
| तस्य समधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।                               | २ २७    | ३७ २०   |
| तस्य हेतुरविद्या ।   | २ २४    | ३६ १७   |
| तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः ।                   | १ ५१    | २५ १४   |
| ता एव सवीजः समाधिः ।   | १ ४६    | २३ ११   |
| तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति<br>विवेकजं ज्ञानम् । ... | ३ ५४    | ७० १३   |
| तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।                             | ४ १०    | ७५ २०   |
| तीव्रसंवेगानामासन्नः ।   | १ २१    | ११ २२   |
| ति प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ।                                 | २ १०    | ३० ४    |



( च )

|  | पा० सू० | पृ० पं० |
|--|---------|---------|
| ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।             | ४ १३    | ७७ १३   |
| ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।      | ३ ३७    | ६३ ५    |
| ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् । | २ १४    | ३० २३   |
| अयमन्तरङ्गं पूर्वैभ्यः ।                   | ३ ७     | ५१ १    |
| तथमेकत्र संयमः ।                           | ३ ४     | ५० १०   |

द

|  |      |            |
|--|------|------------|
| दुःखदीर्घमनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा        |      |            |
| विक्षेपसहभुवः ।                                | ...  | १ ३१ १६ १७ |
| दुःखानुशयी द्वेषः ।                            | २ ८  | २८ ४       |
| दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।            | २ ६  | २८ १६      |
| दृष्टानुश्रविकविषयवितरणस्य वशीकारसंज्ञा        |      |            |
| वैराग्यम् ।                                    | ...  | १ १५ ८ ६   |
| देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।                      | ३ १  | ४८ २०      |
| द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः । | २ २० | ३५ ७       |
| द्रष्टृदृश्ययोः संग्रोगो हेयहेतुः ।            | २ १७ | ३३ १७      |
| द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।        | ४ २३ | ८३ १       |

ध

|                           |      |       |
|---------------------------|------|-------|
| धारणासु च योग्यता मनसः ।  | २ ५३ | ४७ ८  |
| ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।   | २ ११ | ३० ८  |
| ध्रुवे तद्वृत्तिज्ञानम् । | ३ २८ | ६० १८ |

न

|  |      |            |
|--|------|------------|
| न च तत्कालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।      | ३ २० | ५७ २३      |
| न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं |      |            |
| स्यात् ।                                   | ...  | ४ १६ ७८ १४ |

( क )

|  | पा० सू० | पृ० पं० |
|--|---------|---------|
| न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।            | ४ १८    | ८० २३   |
| नाभिचक्रे काव्यव्यूहज्ञानम् ।          | ३ २८    | ६० २२   |
| निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु |         |         |
| ततः चेतिकवत् ।                         | ४ ३     | ७२ २०   |
| निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।       | ४ ४     | ७३ ८    |
| निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।    | १ ४७    | २३ १८   |

प

|  |      |       |
|--|------|-------|
| परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।              | १ ४० | १८ १८ |
| परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च        |      |       |
| दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।                         | २ १५ | ३२ ६  |
| परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्                  | ३ १६ | ५५ ८  |
| परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।                    | ४ १४ | ७८ १  |
| पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं   |      |       |
| स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।               | ४ ३४ | ८८ ४  |
| पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।             | १ २६ | १४ ८  |
| प्रकाशक्रियास्थितिशालं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा-   |      |       |
| पवर्गार्थं दृश्यम् ।                             | २ १८ | ३४ २  |
| प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।             | १ ३४ | १८ १  |
| प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।                 | १ ७  | ५ ३   |
| प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।                      | ३ १८ | ५७ २१ |
| प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।               | १ ६  | ४ २५  |
| प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।              | २ ४७ | ४५ ४  |
| प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।       | ४ ५  | ७३ १४ |
| प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट- |      |       |
| ज्ञानम् ।  | ३ २५ | ६० १  |

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-

दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि

चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । ... १ ३० १६ २

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावी

निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः । ३ ८ ५१ १५

### श

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।

१ ८ ६ २

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्र-

विभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् । ... ३ १७ ५५ १४

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।

३ १४ ५३ २१

शान्तोदितो तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता

परिणामः । ... ३ १२ ५२ १५

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि

नियमाः । ... २ ३२ ४० ८

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।

२ ४० ४३ १

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

१ २० ११ ८

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।

१ ४८ २४ १

श्रोत्राकाशयोः सखन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् । ३ ४१ ६४ १

### स

संस्कारसाक्षात्कारात्यर्वजातिविज्ञानम् ।

३ १८ ५७

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

२ १३ ३१ १

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः १ १४ ७ २

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।

३ ५५ ७१

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो

भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् । ३ ३५ ६२

पुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठा-

तत्वं सर्वज्ञातत्वं च । ... ३ ४८ ६७ १४

पञ्चशुद्धिसौमनस्येन्द्रियदर्शनयोग्यत्वानि च । २ ४१ ४३ १३

त्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । २ ३६ ४२ ८

दा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या-

परिणामित्वात् । ... ४ १८ ८० ११

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः । २ ४२ ४३ १८

समाधिभावनाऽर्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । २ २ २६ २१

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् । २ ४५ ४४ ६

समानजयाज्जलनम् । ३ ४० ६४ १२

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयो चित्तस्य समाधि-

परिणामः । ... ३ ११ ५२ ८

सुखानुशयी रागः । २ ७ २८ २३

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् । १ ४५ २२ १८

सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमाद-

परान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा । ३ २२ ५८ २२

सान्द्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्रयाकरणं पुनरनिष्ट-

प्रसङ्गात् । ... ३ ५१ ६८ ६

स्थिरसुखमासनम् । २ ४६ ४४ १८

सूक्ष्मस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भुतजयः । ३ ४४ ६५ १२

सृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा

निर्विकर्ता । ... १ ४३ २१ १२

सप्रनिद्राज्ञानालम्बनं वा । १ ३८ १८ ८

संसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः । २ ८ २८ ७

सविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार

इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । ... २ ५४ ४७ १४

( ४ )

|  | पा० सू० | पृ० पं० |
|--|---------|---------|
| स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः । | २ २३    | ३६ ७    |
| स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ।              | २ ४४    | ४४ ४    |

४

|   |      |           |
|---|------|-----------|
| हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।                  | ४ २८ | ८५ १५     |
| हृदये चित्तसंवित् ।                       | ३ ३४ | ६२ १      |
| हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेष्टमभावे |      |           |
| तदभावः ।                                  | ...  | ४ ११ ७६ ८ |
| हेयं दुःखमनागतम् ।                        | २ १६ | ३३ १३     |

—०—

### शुद्धिपत्रम् ।

| अशुद्धिः      | शुद्धिः       | पृ० | पं० |
|---------------|---------------|-----|-----|
| तद्वत्सूक्ष्म | तद्वत्सूक्ष्म | १०  | १   |
| स्वामिमुखं    | स्वामिमुखं    | ४८  | ६   |
| ८             | ८             | ७४  | १३  |
| तदुपरागापेक्ष | तदुपरागापेक्ष | ८०  | १   |

# समणिप्रभं पातञ्जलदर्शनम् ।

वन्दे क्लेशाद्यसंसृष्टं पुराणैपुरुषं हरिम् ।

प्रकृत्या सीतया जुष्टं योगेशं योगदायिनम् ॥ १ ॥

पतञ्जलिं सूत्रकृतं प्रणम्य

व्यासं मुनिं भाष्यकृतं च भक्त्या ।

भाष्यानुगां योगमणिप्रभाऽऽख्यां

वृत्तिं विधास्यामि यथामतीक्ष्णाम् ॥ २ ॥

इह खलु भगवान्पतञ्जलिः प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गं शास्त्रप्रतिपाद्यं  
दर्शयति :—

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अत्र “अथ” शब्द आरम्भार्थः योगशास्त्रमारभ्यत इत्यर्थः ।  
यद्यपि हिरण्यगर्भेण शास्त्रं कृतं तथाऽपि तद्विस्तृतमिति मत्वा  
तदनुसृतं शास्त्रमारभ्यत इति द्योतयति “अनुशासनम्” इति ।  
अत्र सूत्रे “योगः” शास्त्रप्रतिपाद्य उक्तः अर्थात्तज्जिज्ञासुरधि-  
कारी फलं तु योगस्य वैवल्लं यथायोगं तेषां सम्बन्ध इत्यनुबन्ध-  
चतुष्टयं द्रष्टव्यम् । तत्र “योगः” द्विविधः संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञात-  
श्चेति । स च चित्तस्य धर्मः, वृत्तीनां चित्तधर्मत्वेन तन्निरोध-  
रूपयोगस्यापि तद्धर्मत्वात् । तस्य चित्तस्य पञ्च भूमयः क्षिप्तं  
मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निश्चलमिति । रजसाऽत्यन्तं चलं क्षिप्तं  
दैत्यानां ; तमसा निद्रादिमूढं रक्षसां ; चित्तादिशिष्टं विक्षिप्तं  
देवादीनाम् ; अत्यन्तचलं निश्चलं कादाचित्कं स्थिरत्वं विशेषः ।  
तत्र चित्तमूढयोरीक्षणयोगोऽपि नास्ति । विक्षिप्ते तु चित्ते

कादाचित्को योगः प्रचुरविचेपवह्निदग्धोऽप्रतिष्ठितो निष्कलो न योगपक्षे वर्तते । एकाग्रे तु सत्त्वप्रधाने एकविषयस्थिते चित्ते रजस्तमोवृत्तिनिरोधः सात्त्विकवृत्तिविशेषः संप्रज्ञातयोगो भवति । तेन शब्दानुमानाभ्यां परोक्षत्वेन ज्ञातार्थः साक्षात्क्रियते साक्षात्कारादविद्यादिल्लेशक्षयः ततः पुण्यपापकर्मणां दाहः ततोऽसंप्रज्ञातो योगः सात्त्विकवृत्तेरपि निरोधः संस्कारमात्रशेषे निरुद्धे चित्ते भवति । तदाह भाष्यकारः—“यस्त्वेकाग्रे चेतसि सदभूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायत इति ॥ १ ॥

अधुना द्विविधस्य योगस्य साधारणं लक्षणमाह :—

### योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तस्य रजस्तमोवृत्तीनां निरोधो “योगः” इत्यर्थः । अतः संप्रज्ञाते सात्त्विकवृत्तिसत्त्वेऽपि नाव्याप्तिः । नन्वेकस्य चित्तस्य क्षिप्ताद्यनेकभूमयः कुत इति चेत्, चित्तस्य त्रिगुणात्मकत्वादिति ब्रूमः । चित्तं हि ज्ञानसुखादिशीलत्वात् प्रवृत्तिगुणादिमत्त्वादालस्यदैन्यादिमत्त्वाच्च सत्त्वरजस्तमोगुणकं भवति । तत्र सत्त्वाक्लिञ्चिदूने रजस्तमसौ मिथः समे यदा भवतः, तदा सत्त्वात् तदध्यानाभिमुखं भूत्वा तमसा तत्पिधाने सति रजसैश्वर्यं कामयमानं विषयप्रियं भवति विक्षिप्तम् । यदा तु तमः प्रधानं चित्तं मूढं तदाऽश्रेयोऽधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यमुपगच्छति अज्ञानमत्र भ्रमो निद्रा च । रजःप्रधानं तु क्षिप्तम् । इदं क्षिप्तमूढे सर्वसाधारणे भवतः । विक्षिप्तं तु प्रथमयोगिनः सन्ति हि चत्वारो योगिनः, प्रथमकल्पिकः, मधुभूमिकः, प्रज्ञाव्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्चेति, तेषां लक्षणं तु वक्ष्यते

यदि पुनः सत्त्वप्रधानं वितमस्कं सरजस्कं भवति तदैकाग्रं  
संप्रज्ञातयोगसिद्धयोर्मध्ययोगिनोश्चित्तं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यवद्भ-  
वति । यदा तु विधूतरजस्तमोमलं शुद्धसत्त्वं चित्तं तदानीं  
विवेकख्यातिं कृत्वा पुरुषमात्रध्यानं धर्ममेवास्थं करोति तत्परं  
प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । “चितिशक्तिरपरिणामिन्य-  
प्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च” इति निश्चित्य सत्त्व-  
गुणविकृतौ विवेकख्यातावपि विरक्तं सच्चित्तं तां निरुध्य संस्कार-  
मात्रशेषं भवति चतुर्थस्य योगिनः । सोऽयमसंप्रज्ञातसमाधिः ।  
अत्र हि न हि किञ्चित्प्रज्ञायत इत्यलम् । चितिशक्तिरित्या-  
द्यनन्ता चेत्यन्तं भाष्यम् । तत्राप्रतिसंक्रमेत्यस्य विले संप्रवद-  
बुद्ध्यादौ प्रविश्य न सञ्चरतीत्यर्थः । बुद्ध्या दर्शिता विषया  
यस्याः सा दर्शितविषया सुखदुःखमोहशून्या शुद्धेत्यर्थः ॥ २ ॥

ननु बुद्धिवृत्तिस्वभावस्य पुरुषस्य वृत्तिनिरोधे कथं स्थिति-  
रित्यत आह :—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

यदा चित्तस्य शान्तघोरमूढानां सर्वासां वृत्तीनां निरोध-  
स्तदा द्रष्टुश्चिदात्मनः स्वाभाविके रूपे स्थितिः, कुसुमापाये यथा  
स्फटिकस्य तथेत्यर्थः पुरुषस्य चैतन्यमात्रं स्वभावो न वृत्तय  
इति भावः ॥ ३ ॥

ननु तर्हि व्युत्थाने पुरुषस्य स्वभावात् प्रच्युतिः स्यादित्या-  
शङ्क्याह :—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

इतरत्र निरोधाद् व्युत्थाने सति याश्चित्तस्य वृत्तयः शान्ता-  
ऽऽद्यास्तत्सारूप्यं वृत्तिमद्बुद्धाविवेकात् पुरुषस्य शान्तो दुःखी



मूढोऽस्मीति वृत्तितादात्म्यभ्रम इत्यर्थः अतो न स्वभावात् प्रच्युतिः । न हि लौहित्यभ्रमकाले स्फटिकस्य श्वेतस्वभावात् च्युतिरस्तीति भावः । निरोधे मुक्तिर्युत्थाने बन्ध इति सूत्रद्वय-  
तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

इदानीं निरोधव्यानां वृत्तीर्नामियत्तामाह :—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

राजवार्त्तिके “चित्तवृत्तिनिरोधान् व्याख्यातुकामेन सूत्र-  
कारेण सूत्रद्वयेन यस्य निरोधव्युत्थानयोर्मुक्तिबन्धौ तच्चित्तमिति  
व्याख्याय, “वृत्तयः” इत्यादिना वृत्तीर्वाख्याय, अभ्यासवैरा-  
ग्याभ्यामित्यादिना पादशेषेण निरोधो व्याख्यातः” इति विशेष  
उक्तः । अवयवार्थस्तयप् । वृत्तिशब्दो वृत्तिसामान्यपरः । चैत्र-  
मैत्रादिवृत्तिभेदेन वृत्तिसामान्यानां बहुत्वात् “वृत्तयः” इति बहु-  
वचनम् । अग्रिमसूत्रोक्ताः प्रमाणादयः पञ्च विशेषा वृत्तिसामान्य-  
स्यावयवा इत्यर्थः । पञ्च अवयवा यासां ताः पञ्चतय्यः तासां  
हानोपादानसिद्धये भेदमाह “क्लिष्टा अक्लिष्टाः” इति । राग-  
द्वेषादिक्लेशानां हेतवः “क्लिष्टाः” बन्धफलाः । सर्वो हि जन्तुः  
प्रमाणादिवृत्तिभिर्ज्ञातेष्वर्थेषु रागादिना कर्म कृत्वा सुखादिना  
बध्यते । “अक्लिष्टाः” क्लेशनाशिन्यो मुक्तिफलाः । सत्त्वगुरुषा-  
न्यतागोचराः ताः खल्वभ्यासवैराग्याभ्यां क्लिष्टवृत्तिप्रवाहमर्धं  
जायमानाः स्वजन्याक्लिष्टसंस्कारैः पुनः पुनरभ्यासेन प्रवृद्धैः क्लिष्ट-  
संस्कारनिरोधेन क्लिष्टवृत्तिप्रवाहं निरुध्य परवैराग्येण स्वयं  
निरुध्यन्ते । ततः संस्कारशेषस्य चित्तस्य प्रलयो मुक्तिर्भव-  
तीति भावः ॥ ५ ॥

पञ्चवृत्तीरुद्दिशति :—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

इतोऽन्या वृत्तिर्नास्तीत्युद्देशसूत्रस्य फलम् ॥ ६ ॥

तत्र प्रमाणवृत्तिं विभजते :—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

त्रीण्येव प्रमाणानीति भावः । अत्र प्रमाकरणत्वं सामान्य-  
लक्षणम् । प्रमा चाज्ञातार्थावगाही पौरुषेयो बोधो वृत्तौ प्रति-  
विम्बः । तत्करणं वृत्तिः । तत्रेन्द्रियसम्बन्धद्वारा चित्तस्य घटा-  
दिसम्बन्धे सति सामान्यविशेषात्मकेऽर्थे व्यक्तिरूपविशेषनिर्द्धार-  
णप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तत्तार्थाकारायां वृत्तौ  
चिदात्मनो यः प्रतिविम्बः सोऽपि वृत्तिद्वारा अर्थाकारः सन् फलं  
भवति । एवं सामान्यतो ज्ञाते परोक्षार्थे समाधिना विद्यमान-  
विशेषवृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणमिति ज्ञेयम् । अनुमानागमयोर्व्याप्ति-  
वृत्तिग्रहापेक्षत्वाद्द्विज्ज्ञानात् साध्यताऽव-  
च्छेदकसामान्यनिर्द्धारणवृत्तिरनुमानम् । आप्तेन दृष्टोऽनुमितो-  
पाऽर्थो येन शब्देनोपदिश्यते तस्माच्छब्दाच्छ्रोतुस्तदर्थविषया  
वृत्तिरागमः । वेदस्याप्तेश्चरप्रणीतत्वं वक्ष्यते ॥ ७ ॥

विपर्ययं लक्षयति :—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

तत्तद्रूपे स्वविषये प्रतिष्ठाशून्यं बाधविरोधीति यावत् ।  
विकल्पोऽपि बाधविरोधी तद्रूपाप्रतिष्ठ इत्यतिव्याप्तिनिरासाय  
‘मिथ्याज्ञान’ पदं तेन स्वविषये स्वजन्यव्यवहारलोपिसर्वसम्मत-  
बाधवत्त्वमुच्यते । न च विकल्पे तादृशबाधोऽस्ति केषाञ्चित्  
खण्डितानां तत्र बाधबुद्धावपि यथापूर्वं व्यवहारालोपात् ।  
शयस्तु लक्ष्य एवेति नातिव्याप्तिरिति भावः । अस्यैव विपर्ययस्य  
पदाः पञ्च लोका इति वक्ष्यते ॥ ८ ॥

विकल्पं लक्षयति :—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

नरशृङ्गादिश्रवणानन्तरमवश्यं भवत्येव निर्विषया वृत्तिर्या सा विकल्प इत्यर्थः । अयं विकल्पो वस्तुशून्यत्वान्न प्रमाणं, बाधेऽप्यवश्यभावेति तत्त्वाद् व्यवहारहेतुत्वाच्च न विपर्ययः । यथा चैतन्यमेव पुरुष इत्यभेदनिश्चयेऽपि पुरुषस्य चैतन्यभेदविकल्पः, भावातिरिक्ताभावो नास्तीति निश्चयेऽपि सर्वधर्माभाववान् पुरुष इति विशेषणविशेष्यभावविकल्पः । एवं राहोः शिर इत्यादिविकल्पा उदाहार्याः ॥ ९ ॥

निद्रां लक्षयति :—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

कार्यं प्रत्ययते गच्छतीति “प्रत्ययः” हेतुः । जाग्रत्स्वप्रवृत्तीनामभावे हेतुस्तमः “अलम्बनं” विषयो यस्याः सा “वृत्तिः” निद्रा । वृत्तिपदस्यानुवर्तमानस्योच्चारणं ज्ञानाभावो निद्रेति मतनिरासार्थम् । तथा हि उद्यितस्य सुखमहमस्वाप्समिति स्मरणं बुद्धिसत्त्वसचिवतमोविषयं तदनुभवं कल्पयति । दुःखमहमस्वाप्समिति स्मरणं रजस्तमोविषयं तदनुभवं कल्पयति । गाढमूढमहमस्वाप्समिति केवलतमोविषयं स्मरणं तदनुभवं कल्पयति । स चानुभवो बुद्धिधर्मो निद्रा । सा चैकाग्रवृत्तिकल्पाऽपि तामसत्वाद्योगार्थिना निरोद्धयेति भावः ॥ १० ॥

स्मृतिं लक्षयति :—

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

प्रमाऽद्यनुभवो हि स्मृतेः पिता तस्य विषयः स्मृतेरात्मीयः । लोके पितुः स्वमिव पुत्रस्य । स्मृतेर्मूलानुभवाविषयसु परस्व

ग्रहः संप्रमोषः स्तेयः । तथा चानुभूते विषये योऽयं “असं-  
मोषः” अधिकाग्रहः अनुभूतमात्रग्रह इति यावत् सा स्मृति-  
प्रार्थः । वृत्तिस्थः पौरुषबोधोऽनुभवः स्वप्रकाश इति तज्जन्य-  
कारादनुभवविषयाऽपि स्मृतिर्भवति । ननु स्वकाये गज-  
पृथ्व्यमननुभूतमपि स्वप्ने स्मर्यते इति चेन्न तस्य विपर्ययत्वा-  
त्ति भावः ॥ ११ ॥

आसां वृत्तीनां निरोधोपायमाह :—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

सर्वस्य जन्तोः स्वभावतश्चित्तवृत्तिर्नदी विषयभूमिगा  
परमागाराभिमुखो प्रवहति । तत्र विषये वैराग्येण तत्प्रवाहं  
क्त्वा सत्त्वपुरुषविवेकाभ्यासेन तस्या नद्याः प्रत्यक्प्रवाहः  
यते । अनभ्यासे हि लयविक्षेपस्वभावस्य चित्तस्य वैराग्यादु-  
क्षिपभङ्गे निद्रा स्यात्, तस्मादभ्यासवैराग्ये लयविक्षेपनिवृत्ति-  
प्रयोजनभेदेन निरोधे कार्यं समुच्चीयते ॥ १२ ॥

अभ्यासस्वरूपमाह :—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

“तत्र” तयोर्मध्ये रजस्तमोवृत्तिशून्यस्य चित्तस्यैकाग्रता  
स्थितिः” तस्यां कार्यायां यानि साधनानि यमनियमादीनि  
विषयः “यत्नः” अनुष्ठानम् “अभ्यासः” इत्यर्थः ॥ १३ ॥

नन्वनादिप्रबलराजसतामसवृत्तिसंस्कारैर्विरोधिभिः कुण्ठि-  
ऽभ्यासो न स्थित्यै कल्पत इत्यत आह :—

तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः १४

“तु”शब्दः शङ्कानिरासार्थः । “सः” अभ्यासो दीर्घकालं

तपोब्रह्मचर्यविद्याश्रृङ्गारूपसत्कारेण नैरन्तर्येण चासेवितोदृष्ट-  
संस्कारः स व्युत्थानसंस्कारैर्नाभिभूयते किन्तु स्थितिसमर्थो भवते  
त्यर्थः । “अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानं  
मन्विष्येति” श्रुतिः सत्कारं दर्शयति ॥ १४ ॥

वैराग्यस्वरूपमाह :—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा  
वैराग्यम् ॥ १५ ॥

यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारसंज्ञाश्चतस्रः । तत्र रागा-  
दीनां चित्तस्थानां कषायाणां विषयेष्विन्द्रियप्रवर्त्तकान-  
पाकाय प्रयत्नो यतमानसंज्ञा वैराग्यं, ततः पक्वानां केषाञ्चित्  
कषायाणां पक्ष्यमाणेभ्यो विभागावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्यं  
ततः पक्वानां सर्वेषामिन्द्रियप्रवर्त्तनाशक्तानां मनस्यौत्सुक्य-  
रूपेणावस्थानमेकेन्द्रियसंज्ञा वैराग्यं, स्त्रियोऽन्नपानमित्यादि-  
दृष्टेषु, गुरुच्चारणमनुश्रवः श्रवणं यस्य सोऽनुश्रवो वेदः तदुक्ते-  
ष्वानुश्रविकेषु, स्वर्गादिदिव्यादिव्यविषयेषु विनाशपरितापसाति-  
शयत्वात्सूयादिदोषाणामभ्यासेन साक्षात्कारात् “वितृष्णस्य” उपेक्षा-  
बुद्धिः “वशीकारसंज्ञा” “वैराग्यम्” इत्यर्थः ॥ १५ ॥

अपरं वैराग्यमुक्त्वा परं वैराग्यमाह :—

तत्परं पुरुषख्यातिगुणवैतृष्णाम् ॥ १६ ॥

पूर्ववैराग्यमुत्तरवैराग्ये हेतुः । तथा हि वक्ष्यमाणयोगाङ्गा-  
नुष्ठानादनतिशुद्धचित्तस्य विषयेषु दोषदर्शनाद् वशीकारसंज्ञक-  
वैराग्ये सति गुर्वागमावगतस्य पुरुषस्य या ख्यातिस्तदभ्यासा-  
द्धर्ममेधास्थध्यानरूपान्नितान्तविध्वस्ततमोरजोमलं चित्तं सत्त्वं  
मातृशेषमतिप्रसन्नं भवति । सोऽयमतिशुद्धचित्तधर्मः प्रसादे

र्ममेषस्योत्तरावधिः तस्यैव फलीभूतः, परं गुणैर्भ्योवैट्ठ्णरं  
राग्यमुच्यते यं मुक्तिहेतुसाक्षात्कारं वदन्ति मोक्षविदः । यस्यो-  
ये प्रक्षीणसर्वक्लेशो विधूताशेषकर्माशयः कृतविवेकस्याताव-  
पुपेक्षकः कृतं कृत्यं प्राप्तं प्रापणीयमिति मन्यते योगी । यदन-  
तरमेव चित्तमसंप्रज्ञातसंस्कारमात्रशेषं भवति तत्परं वैराग्यम् ।  
।परं तु वैराग्यं वितमस्कस्य रजोलेशमलस्य चित्तस्य धर्मः  
।तः प्रकृतौ लीना ऐश्वर्यमनुभवन्ति । यथोक्तं “वैराग्यात्पूकृति-  
।यः” इति ॥ १६ ॥

एवमभ्यासवैराग्ये निरूप्य तत्साध्यं निरूपयन्नादौ संप्रज्ञातं  
तुर्विधं दर्शयति :—

तर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः १७

यथा लोके प्राथमिकधानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यति पञ्चात्-  
क्ष्मं तथा प्राथमिको योगो स्थूलमेव शालग्रामादिकं ध्यानेन  
।ाक्षात्करोति स स्थूलसाक्षात्कारो “वितर्कः” । तस्य स्थूलस्य  
।रणं पञ्चतन्मात्रादिकं सूक्ष्मं तस्य ध्यानेन साक्षात्कारो  
विचारः” । इन्द्रियाणि स्थूलानि प्रकाशकत्वात्सत्त्वरूपाणि तेषां  
।ानेन साक्षात्कारः “आनन्दः” । तेषां कारणं बुद्धिः पुरुषेण  
।ीत्वैकीभूता सती अस्मिता तस्या ध्यानेन साक्षात्कारः “अप्य-  
।प्त” इच्यते । तत्र स्थूलं च आह्वयमिन्द्रियाणि ग्रहणानि  
।स्मिताऽऽख्यो ग्रहीता तेषु ग्रहीतग्रहणग्राह्येषु ध्यानपरिपाकः  
।प्रज्ञातः”योगः । स च वितर्कविचारानन्दास्मितास्वरूपैश्चतुर्भिः  
।नुगमात्” चतुर्विधः सवितर्कः, सविचारः, सानन्दः, सास्मित  
।ति । अत्र यथा घटज्ञानं मृद्विषयं तादात्म्यात् तथा स्थूलयोगः  
।लसूक्ष्मेन्द्रियास्मिताविषयकः सूक्ष्मयोगस्तद्विषयकः, अन्यौ  
।विषयाविति विशेषः । अथ कदाचित् । तदा घटज्ञानं घटा-

विषयं यथा तद्वत्क्ष्मादियोगाः स्थूलाद्यविषया इति मन्तव्यम् । भोजवृत्तौ तु इन्द्रियेषु सवितर्कमुक्त्वा, तन्मात्रेषु सविचारमुक्त्वा, अहङ्कारे सानन्दो, महतत्त्वे सास्मित इत्युक्तम् । तत्राहमिति विषयग्राहकान्तःकरणमहङ्कारः । अन्तर्मुखं सत्तामात्रं महतत्त्वे लीनं सत्तामात्रावभासवामस्मितेति तयोर्भेदः । ग्रहीत पुरुषः ॥ १७ ॥

अधुना सोपायमसंप्रज्ञातमाह :—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

वृत्तीनामभावो “विरामः” तस्य “प्रत्ययः” कारणं परवैराग्यं तद् “अभ्यासः” “पूर्वः” उपायो यस्य स तथा । अनेन पदेनोपा उक्तः “अन्यः” असंप्रज्ञातः “संस्कारशेषः” । परं हि वैराग्यसंप्रज्ञातसंस्कारानप्यभिभूय स्वसंस्कारं शेषयति । स निर्वीजसमाधिः । निरालम्बनत्वात् कर्मबीजाभावाच्चेत्यर्थः ॥ १८ ॥

अयमसंप्रज्ञातो द्विविधः भवप्रत्यय, उपायप्रत्ययश्च, तत्रादिसुमुक्तुभिर्हेयस्तमाह :—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

भूतेन्द्रियाणामन्यतमस्मिन् विकारेऽनात्मन्यात्मत्वभावनया देहपातानन्तरं भूतेन्द्रियेषु लीनाः प्राट्कौशिकदेहशून्या “विदेहाः” अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेषु प्रकृतिष्वात्मत्वभावनया लीना “प्रकृतिलयाः” । तेषां चित्तं संस्कारमात्रशेषमित्यसंप्रज्ञातः स तु “भवप्रत्ययः” । भवन्ति जायन्तेऽस्यां जन्तव इत्यविद “भवः” अनात्मन्यात्मत्वबुद्धिः स प्रत्ययो हेतुरस्य स तथा अविद्या मूलोऽयं योगोऽन्तवत्फलः । यदाह बायुः —

“शतमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।  
भौतिकासु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥  
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।  
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥  
पुरुषं निगुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ॥”

इति येषां विवेकख्यातिर्नास्ति तेषां चित्तं लीनमप्युत्थाय  
सारे पतति सुप्तचित्तवदिति भावः ॥ १८ ॥

अधुना द्वितीयमुपादेयमाह :—

‘‘वावौर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

पुरुषगोचरा सात्त्विकी “अद्धा” तथा “वीर्य्य” प्रयत्नो जायते  
न यमनियमादिपरम्परया “स्मृतिः” ध्यानं तेन “समाधिः” तेन  
प्रज्ञा” पुरुषगोचरख्यात्यभ्यासः संप्रज्ञातस्ततः परवैराग्यादसं-  
ज्ञातः “इतरेषां” मुमुक्षूणां योगिनां भवति ॥ २० ॥

अद्धाऽऽदयः प्रज्ञान्ता उपायास्तत्पूर्वकोऽयमुपायप्रत्ययः ते  
उपायाः प्राणिनां प्राक्संस्कारबलान्मृदुमध्याधिमात्रभेदास्त्रिवि-  
स्तया च योगिनस्त्रयो भवन्ति मृदूपायो, मध्योपायोऽधिमा-  
उपाय, इति । तत्र मृदूपायस्त्रिविधः मृदुसंवेगो, मध्यसंवेगः,  
व्रसंवेग इति । एवमितरावपि त्रिविधौ भवतः । एवं च नव-  
गिनो भवन्ति । तेषां चिरं चिरतरं क्षिप्रं क्षिप्रतरं सिद्धयो  
वन्ति उपायतारतम्यात् । तत्र केषाञ्चित् क्षिप्रतरं सिद्धिरि-  
ति आह :—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

संवेगो वैराग्यं येषां तीव्रम्, उपायाश्चाधिमात्रास्तेषां योगि-  
मासन्नः समाधिरसंप्रज्ञातस्ततो मोक्ष इत्यर्थः ॥ २१ ॥



मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

तीव्रस्य संवेगस्यापि “मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततः” मृदुतीव्र-  
संवेगस्य योगिन आसन्नात् समाधेर्मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरा-  
दधिमात्रतीव्रसंवेगस्यासन्नतमः, समाधिलाभ इति “विशेषः”  
इत्यर्थः ॥ २२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

“ईश्वरे” कायिकाद्वाचिकान्मानसात् “प्रणिधानाद्” भक्तिविशे-  
षादासन्नतमः समाधिलाभः । “वाशब्दः” पूर्वोक्तोपायेनास-  
भक्त्युपायस्य विकल्पार्थः । भक्तेरन्यानपेक्षत्वादीश्वरो हि भक्त्या  
ऽभिमुखः सन्निदमिष्टमस्यास्त्वित्यनुगृह्णातीति भावः ॥ २३ ॥

ईश्वरस्वरूपं निरूपयति :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष

ईश्वरः ॥ २४ ॥

“क्लेशाः” अविद्यादयः पञ्च । “कर्म” धर्माधर्मौ । तयो-  
फलं “विपाकः” । फलानुकूलाः संस्कारा “आशयाः” । मनस्या-  
शेरत इति व्युत्पत्तेः । यथा नरस्य करिजन्मनि काष्ठभोग-  
संस्कारा उद्भवन्ति अन्यथा जीवनासम्भवात् तैः क्लेशादिभि-  
श्चित्तस्थैः “परामृष्टः” सांसारिकः पुरुषश्चित्ताविवेकेन भोक्त-  
त्वात् तैः कालत्रयेऽप्यसम्बद्धः “पुरुषः” “ईश्वरः” “विशेष” पदे-  
कालत्रयासम्बन्धवाचिना मुक्तजीवेभ्यो व्यावृत्तिः कृता । तेष-  
पूर्वकाले बन्धत्रयसम्बन्धात् प्रकृतौ लीनानां प्राकृतौ बन्धः, भूत-  
न्द्रियेषु विकारेषु लीनानां विदेहानां वैकारिकः, अन्येष-  
देवनरादीनां दक्षिणाबन्धः, चित्ताधीनकर्मफलत्वादिति भेदः  
ननु ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वं परमैश्वर्यं पुरुषस्यापरिणामिनः कथ-

प्रातः । उच्यते । अस्ति ईश्वरस्यानादिसिद्धं शुद्धसत्त्वात्मकं चित्तं  
धानजं निरतिशयज्ञानक्रियाशक्तिमत् स हि भगवान् संसारा-  
वाञ्छन्तूनामुद्धरणेच्छया तच्चित्तमुपादत्ते तद्दिना ज्ञानधर्मोप-  
शमक्तानुग्रहायोगात् । न च कथं चित्तोपादानात् प्रागिच्छा-  
पुदेतीति वाच्यम् । बीजाङ्कुरवैदनादित्वात् सर्गप्रलयप्रवाहस्य  
तदा सर्वकार्यस्य प्रलयस्तदा भविष्यत्काले लोकानुग्रहार्थमिदं  
चित्तमुपादेयमिति भगवता सङ्कल्प्यते तत्सङ्कल्पवासितं प्रधाने  
ज्ञानं सत्सर्गादौ चित्तमुद्भवति तेन चेश्वरोऽनुगृह्णातीत्यनवद्यम् ।  
तनु तादृशचित्तसत्त्वे किं मानमिति चेत् “स्वाभाविकी ज्ञान-  
शक्तिक्रिया च एष सर्वेश्वरः” इत्यादिवेदवाक्यमिति क्रमः ।  
प्रेतो निरतिशयज्ञानशक्तिविशिष्टेश्वरप्रणीतोऽतः प्रमाणमिति  
मन्त्रेण ॥ २४ ॥

एवं वेदप्रमाण्यात् सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः तस्य सर्वज्ञत्वेऽनु-  
मानमप्याह :—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

अस्मदादीनां ज्ञानं निरतिशयेन ज्ञानेनाविनाभूतं भवि-  
ष्यमर्हति, सातिशयत्वात्, यत्सातिशयं तत्प्रमानजातीयेन निर-  
तिशयेन युक्तं, यथा कुम्भपरिमाणं विभुपरिमाणेन, तत्सिद्धं  
‘निरतिशयं’ ज्ञानं “सर्वज्ञस्य” “बीजं” ज्ञापकं यत्र निरतिशयं  
ज्ञानं “तत्र” सर्वज्ञत्वं ज्ञायत इत्यर्थः । तस्य सामान्येन सिद्धस्य  
सर्वज्ञस्य श्रुत्यादिसिद्धाः शिवविष्णुनारायणमहेश्वरादिसंज्ञाः ।  
यथा च वायुपुराणे :—

“सर्वज्ञता तस्मिन्नादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।

अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाङ्कुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥

ज्ञानवैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।

स्मृतृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥

अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ॥” इति ।

तथा महाभारते :—

“अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।

लोकाध्यक्षं सुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥”

इत्यादि ॥ २५ ॥

तस्य भगवतो ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह :—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

“पूर्वेषां” सर्गादावुत्पन्नानां कालपरिच्छिन्नानां “गुरुः” ईश्वरः । कुतः “कालेनानवच्छेदात्” अनाद्यन्तत्वादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः । “यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै” इत्याद्या ॥ २६ ॥

एवमीश्वरं निरूप्य तत् प्रणिधानं वक्तुं तस्य रहस्यसंज्ञामाह :—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

सुगमं सूत्रम् । ननु शब्दस्य वाचकत्वम् अभिधाऽऽख्या शक्तिः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इत्युच्यते । सा किं सङ्केतेन क्रियते, व्यज्यते, वा ? नाद्यः । प्रतिकल्पं स्वतन्त्रेश्वरस्य सङ्केतभेदेन शब्दार्थाव्यवस्थाप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । सूर्यादिशब्दानां पुत्रेषु पित्रा सङ्केतवैफल्यात् । न हि तत्र सङ्केतव्यङ्ग्या शक्तिरस्ति । न चासति व्यङ्गे व्यञ्जकमर्थवत् तस्मादिदं सङ्केतसूत्रं व्यर्थमिति चेदु । उच्यते । स्थितैव शक्तिः सङ्केतेन व्यज्यते यथा स्थित एव पितृपुत्रभावी ममायं पुत्र इति वाक्येन व्यज्यते तद्वन्नवादिशब्देषु प्रलये प्रधानसाम्यं गतेषु सर्गादौ पुनः शक्त्या सहोद्भूतेषु स्थितामेव

तत्तच्छब्दस्य तत्तदर्थे शक्तिमीश्वरः सङ्केतेन ज्ञापयति । जीवानां गुप्तसंस्कारत्वात् । अधुनातनपित्रादिसङ्केतस्तु शक्तेरुत्पादकः । तेचित्तु सर्वशब्दानां सर्वार्थेषु शक्तिरस्तीति पित्रादिसङ्केतोऽपि शब्दकः गवादिशब्दानां तु वेदार्थव्यवस्थाऽर्थमीश्वरसङ्केतेनार्थ-  
वैशेष्ये शक्तिर्नियम्यत इत्याहुः । सर्वथाऽपि वैदिकशब्दार्थ-  
प्रबन्धो व्यवस्थितव्यवहारतया नित्य इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

एवं वाचकमुक्त्वा प्रणिधानमाह :—

**तत्प्रपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥**

अस्य भाष्यमेव लिख्यते । “प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य  
वैश्वरस्य भावनं तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च  
भावयतः चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते । तथा चोक्तम् :—

“स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥” २८ ॥

तत्त्वेश्वरप्रणिधानस्यासन्नतमः समाधिलाभः फलमिति पूर्व-  
ोक्तम् । अधुना फलान्तरमपि तदनुगुणमाह :—

**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥**

प्रतीपं विपरीतमञ्चति जानातीति “प्रत्यक्” आत्मा इत्यर्थः ।  
प्रतिनेश्वराद्भेद उक्तः बुद्धेरप्यन्तरं वा । प्रत्यक् चासौ “चेतनश्च”  
स्य “अधिगमः” साक्षात्कारः “ततः” प्रणिधानाद्भवति । अत्र  
“अन्तरायाणामभावश्च” भवति । ननु स्वभिन्नेश्वरप्रणिधानात्  
साक्षात्कारः कथं स्यात् अभ्यासतत्त्वज्ञानयोः षड्जादावेक-  
वषयत्वदर्शनादिति चेद् । उच्यते । यथैवेश्वरोऽसङ्गश्चिद्रूपः  
स्थः क्लेशादिशून्यस्तथैव जीव इति सादृश्यादीश्वरध्यानं तदनु-  
ह्वारा जीवस्वरूपसाक्षात्कारहेतुरित्यनवद्यम् ॥ २९ ॥

अन्तरायानाह :—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति  
दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षे-  
पास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

ये चित्तं योगाद्विच्छिपन्ति भ्रंशयन्ति “ते” “चित्तविक्षेपाः”  
योगस्य “अन्तरायाः” विघ्ना नव । तत्र “व्याधिः” वातपित्तश्लेष्मण  
मन्त्ररसस्येन्द्रियाणां च वैषम्यं, “स्त्यानं” चित्तस्य लुब्धत्वेऽ  
कर्मानर्हता, “संशयः” प्रसिद्धः, योगाङ्गाननुष्ठानं “प्रमादः”  
“आलस्यं” चित्तस्य गुरुत्वादप्रवृत्तिः, “अविरतिः” विषयदृष्ट्या  
“भ्रान्तिदर्शनं” एककोटिको विपर्ययः, “अलब्धभूमिकत्वं”  
समाधिभूम्यलाभः, मधुमत्यादयः समाधिभूमयो वक्ष्यन्ते  
“अनवस्थितत्वं” नाम लब्धायां भूमौ चित्तस्यास्थिरत्वं, पूर्वभूमं  
हि स्थितं चित्तम् उत्तरभूमिं जयेत्, तस्मादस्थिरत्वं दो-  
ष्टव्यर्थः ॥ ३० ॥

न केवलमेते विक्षेपा योगनाशकाः, किन्तु दुःखादीनां  
कुर्वन्तीत्याह :—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्त्वश्वासप्रश्वासा विक्षे-  
पसहभुवः ॥ ३१ ॥

“दुःखं” व्याधिजं शारीरं, कामादिजं मानसं, तद्वयमाध्य-  
मिकम् । व्याघ्रादिजमाधिभौतिकम् । ग्रहपीडादिजम् आधि-  
दैविकम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघातात् क्षोभो मनसि । अङ्गमे-  
जयतोभावोऽङ्गमेजयत्वमङ्गानां कम्पनमित्यर्थः । अनिच्छत-  
प्राणो यं वाह्यवासुमन्तः, प्रवेशयति स श्वासः समाध्यङ्गरेचव

वेरोधीत्यर्थः । एवमनिच्छतः कौट्यस्य वायोर्वह्निर्गमनं प्रश्वासः  
रक्तविरोधी । एते विक्षेपैः सह भवन्ति विक्षिप्तचित्तस्य  
।वन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ईश्वरप्रणिधानादेतेषामभाव इत्युक्तमुपसंहरति :—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

विक्षेपानां नाशार्थमेकतत्त्वस्येश्वरस्य “अभ्यासः” ध्यानं कार्य-  
मेत्यर्थः । अत्र “भाष्यकारैः” स्थायि चित्तं स्यात्तत्त्वैकाग्रता  
।म्यादनीयेति क्षणिकमतमाशङ्क्य सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानादिना  
वेत्तमेकमनेकार्थावगाहि स्थायि विद्यत इति साधितम् ॥३२॥

तस्य चित्तस्यासूयाऽऽदिमलवतो योगायोगात्तन्मलनिरासो-  
पायानाह :—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-  
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखिषु प्राणिषु “मैत्री” मित्रतां, दुःखितेषु “करुणां” दयां,  
खवर्त्तिषु “मुदिताम्” हर्षम्, अपुण्यशब्दितपापवृत्तिषु  
उपेक्षां” मध्यस्थवृत्तिं भावयेत् । तथा भावनया चित्तस्य  
प्रसादनं” भवति । सुखादिषु यथाक्रममुक्तया भावनया  
।त्त्विको धर्मो जायते । तेष्वीर्ष्याऽपकारेच्छाऽसूयादेषाणां  
वृत्तमलानां विनाशात्तेन च शुक्लेन धर्मेण चित्तं प्रसन्नं भवति ।  
सन्नं च वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्य एकाग्रं स्थितिपदं लभत इति  
।त्यर्थम् ॥ ३३ ॥

इदानीं मैत्रादिभावनया प्रसन्नस्य चित्तस्य स्थित्युपा-  
।नाह :—

### प्रच्छेदनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

“प्रच्छेदनं” रेचनं, रेचितस्य प्राणस्य वह्निरेव “विधारणं,” यथाशक्ति ताभ्यां चित्तमेकत्र लब्धे स्थितिं लभते । प्राणजं चित्तस्य जयस्तयोरविभागात् प्राणायामस्य सर्वपापनिवर्त्तकत्वात् पापनिवृत्तौ चित्तं स्थिरं भवति । वाशब्दो वक्ष्यमाणोपायान्तरापेक्षया विकल्पार्थो न तु भैत्रादिभावनाऽपेक्षया तद्भावनायाः सर्वोपायसहकारित्वेन समुच्चयादिति मन्तव्यम् ॥ ३४ ॥

उपायान्तरमाह :—

### विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति- निवन्धनी ॥ ३५ ॥

नासाऽग्रे चित्तस्य संयमादिव्यगम्यसाक्षात्कारो भवति जिह्वाऽग्रे संयमादिव्यरसस्य संविद्भवति, तालुनि रूपसंवित्, जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्, जिह्वामूले शब्दसंवित्, एताः संविदो गन्धादिविषयवत्यः प्रवृत्तयः शीघ्रमुत्पन्नाः सत्यो विश्वासमुत्पाद्यातिसूक्ष्मे श्वरादौ “मनसः” स्थितिं निवध्नन्तीत्यर्थः । शास्त्रोक्तविशेषस्य कस्यचिदनुभवे सत्यतिसूक्ष्मेऽपि श्रद्धया संयमार्थयोगो प्रवर्त्तत इति भावः ॥ ३५ ॥

### विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अष्टदलं हृत्पद्मं रेचकेनोर्ध्वमुखं ध्यात्वा तत्कारिकां स्थायाम् ऊर्ध्वमुख्यां सुषुम्नाऽऽख्यनाद्यां संयमनात्मनसः संविद्भवति । तबानः सूर्येन्दुग्रहमण्डानां वा या प्रभा तद्रूपेणा नेकधा भवति तत्सात्विकं ज्योतिर्मनः । तस्य कारणं सात्विको

हङ्कारो निस्तरङ्गमहोदधिकल्पो व्यापी । तस्यापि ज्योतिः-  
रूपस्य संयमात् संविद्भवति । सैषा द्विविधा संविद् । ज्योति-  
तो मनोऽहङ्काराख्या ज्योतिर्विषया, विशोका दुःखशून्या,  
वृत्तिरूपेणा मनसः स्थितिहेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

व्यासशुकादीनां “वीतरागं” यच्चित्तं तद्विषयं तत्र धार्यमाणं  
तेगिनः “चित्तं” स्थितिपदं लभत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

स्वप्ननिद्रान्नालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

ज्ञानशब्दो ज्ञेयपरः । स्वप्ने भगवतो मूर्त्तिमत्यन्तमनो-  
रामाराधयन्नेव प्रबुद्धः तत्रैव चित्तं धारयेत् । निद्रायां सुषुप्तौ  
त् सुखं जायते तत्र धारयेत् । एवं स्वप्ननिद्राज्ञेयालम्बनं चित्तं  
स्थितिं लभते ॥ ३८ ॥

यथाऽभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

किं बहुना यदेवेष्टं शिवरामकृष्णादिरूपं तदेव ध्यायेत् ।  
तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिं लभते । अभिमतमनति-  
स्य “यथाऽभिमतं” तस्य “ध्यानात्” इति विग्रहः ॥ ३९ ॥

ननु चित्तस्थितिर्जायत इत्यत्र किं ज्ञापकमित्यत्राह :—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

“अस्य” चित्तस्य सूक्ष्मे निविशमानस्य यः परमाण्वन्तो  
वशीकारः” अप्रतिघातः । तथा स्थूले निविशमानस्य परम-  
हत्त्वाकाशान्तोऽप्रतिघातः । तेन परेण वशीकारेण चित्तं  
व्यस्थितिकमिति ज्ञात्वा स्थित्युपायानुष्ठानादुपरमतीत्यर्थः ॥ ४० ॥  
एवं चित्तस्थितेरुपाया उक्ताः । ज्ञापकश्च वशीकार उक्तः ।



सम्प्रति लब्धस्थितिकस्य चित्तस्य किं विषयः किं रूपम्  
संप्रज्ञातो योगो भवत्यत उत्तरं पठति :—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीदग्रहणग्राह्येषु  
तत्स्थितदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

यथा “अभिजातस्य” कुलीनस्यातिस्वच्छस्य स्फटिक “मणेः”  
जपाकुसुमाद्युपरक्तस्य स्वरूपाभिभवेन रक्ताद्याकारता भवति  
तथाऽभ्यासवैराग्याभ्यां क्षीणरजस्तमोवृत्तिकस्य चित्तमणेः स्थूल-  
सूक्ष्मभूतात्मकग्राह्येण ग्रहणैरिन्द्रियैर्ग्रहीता पूर्वोक्तास्मिताः  
ऽऽख्यपुरुषेण चोपरक्तस्य स्वरूपाभिभवेन या ग्राह्याकारता  
ऽऽपत्तिः स संप्रज्ञातः । पूर्वोक्तवितर्कविचारानन्दास्मिताऽनु-  
गमाच्चतुर्विधश्चतुर्विधयकः प्रत्येतव्यः । अत्र सूत्रेऽर्थक्रमबलात्  
पाठं भङ्क्ता ग्राह्यग्रहणग्रहीदेषु तदुपरक्तस्य चित्तस्य  
“तदञ्जनता” स्वरूपपरित्यागेन तद्रूपता तस्याः सम्यगापत्ति-  
रिति व्याख्येयम् । स्थूलसूक्ष्मक्रमेणैव चित्तस्य ग्रहीतृपरागात्  
“तत्स्थिति” भिन्नं पदम् । अविभक्तिकं स्यान्तं कृत्वा क्षीण-  
वृत्तेः तत्स्थित्येति योज्यम् । यद्वा “तत्स्थ” च “तदञ्जन” च तस्य  
भावस्तत्ता । क्षीणवृत्तेस्तया “समापत्तिः” इत्यर्थः ॥४१॥

संयं संप्रज्ञाताख्या समापत्तिः पुनरवान्तरभेदाच्चतुर्धा  
भवति । सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा चेति  
तत्र सवितर्कायाः स्वरूपमाह :—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का ॥४२॥

“तत्र” तासु समापत्तिषु मध्ये सवितर्का समापत्तिरेषा  
ज्ञेया । तथा हि । गौरित्युक्ते शब्दार्थज्ञानानि त्रीण्यभिन्नानि  
भासन्ते । तत्र गौरिति शब्द इत्येको विकल्पः, अयं हि गौरि-

प्राप्तयोरर्थज्ञानयोः शब्दाभेदविषयकः । तथा गौरित्यर्थ-  
त्येको विकल्पः, तत्र गौरित्युपात्तयोः शब्दज्ञानयोरर्थाभेद-  
विषयकः । एवं गौरिति ज्ञानमित्येको विकल्पः, अयं तु गौरि-  
उपात्तयोः शब्दार्थयोर्ज्ञानाभेदगोचरः । त एते विकल्पाः, असद-  
गोचरत्वात् । एवं घटः पट इत्यादयो विकल्पा ज्ञेयाः ।  
तत्र शब्दज्ञानाभ्यामभेदेन विकल्पिते स्थूले गवाद्यर्थे समाहित-  
वत्तस्य योगिनः समाधिजन्यसाक्षात्कारो यथा कल्पितार्थमेव  
दृष्ट्वाति तथा सा समाधिप्रज्ञा शब्दार्थज्ञानानां विकल्पैः  
‘सङ्कीर्णा’ तैस्तुल्या भवति विकल्पत्वाविशेषात् सा सङ्कीर्णा  
‘सवितर्का’ समापत्तिरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

निर्वितर्कामाह :—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा  
निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

गवादिशब्दानां शक्तिरूपः सङ्केतो विकल्पितार्थेष्वेव  
शक्तिं गृह्यते तस्य स्मृत्या शब्दज्ञानं परार्थानुमितिश्च विकल्प-  
एव जायते । तथा च श्रुते वाऽनुमिते वाऽर्थे श्रुत्यनुमिति-  
रूपविकल्पमूला समापत्तिः सवितर्का भवति “स्मृतिपरिशुद्धौ”  
प्रत्ययम् अर्थमात्रतात्पर्यवता चित्तेनार्थमात्राध्यासात् सङ्केत-  
प्रवृत्तस्याग्रे सति तत्कार्यस्य विकल्पस्य त्यागात् समाधिप्रज्ञा  
प्राप्यं ग्राहकत्वं प्रज्ञारूपं यत्तेन “शून्येव” भूत्वार्थमात्र-  
निर्भासादविकल्पितार्थरूपं यद्ग्राह्यं तत्स्वरूपेणैव निर्भास्य-  
माना ‘निर्वितर्का’ समापत्तिरित्यर्थः । तत्र सवितर्कसाक्षा-  
त्कारो यस्मादपरं प्रत्यक्षं विकल्पत्वात् । निर्वितर्कप्रत्यक्षं तु  
सत्यार्थविषयत्वात् । स च सत्यार्थो गोघटादिरवयवी ज्ञेयः ।

अत्र परमाणुपुञ्जातिरिक्तोऽवयवी नास्तीति बौद्धमतमाशङ्क  
महानिको घट इत्यवाधितानुभवादस्ति, स चास्माकं मते भूत  
सूक्ष्मरूपाणां परमाणूनां परिणामः । तस्य च स्वीपादाने  
भेदाभेदात्मकं तादात्म्यमिति “भाष्ये” साधितम् ॥ ४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषय  
व्याख्याता ॥ ४४ ॥

स्थूलपरिणामघटादिषु उपादानत्वेनानुगता ये परम  
णवः पञ्चतन्मात्राणां विकारा भूतरूपेण संस्थिताः सूक्ष्मा  
स्तेषु विषयेषु स्वीयकार्यकारणदेशकालनानाविशेषणविशिष्टेषु  
स्वाचकशब्दज्ञानाभ्यामभेदेन विकल्पितेषु या समापत्तिः  
सा “सविचारा” इति उच्यते । तेष्वेव सर्वविशेषणशून्येष्वर्थमात्रेषु  
परमाणुषु या समापत्तिः सा “निर्विचारा” । सा खलु सत्यार्थ  
मात्रस्वरूपा समाधिप्रज्ञा स्वरूपशून्येव निर्भासते । तया च  
स्थूलगोचरया सवितर्कया निर्वितर्कया च व्याख्यातया  
सूक्ष्मविषया “सविचारा” “निर्विचारा” च व्याख्याता भवती  
त्यर्थः ॥ ४४ ॥

ननु किमस्याः ग्राह्यसमापत्तेः परमाणुष्वेवावसानं  
नेत्याह :—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

अस्याः समापत्तेः “सूक्ष्मविषयत्वं” अलिङ्गे प्रधाने पर्यव  
स्यति । तथाहि । पार्थिवः परमाणुगन्धतन्मात्रादितरतन्मात्रा  
ङ्गकाज्जायते । आप्यस्तु गन्धतन्मात्रवर्जिताद्रसतन्मात्रादितरत  
न्मात्राङ्गकाद् । तैजसस्तु गन्धरसद्वयवर्जिताद्रूपतन्मात्रादितर  
द्वयाङ्गकाद् । वाय्वस्तु पूर्वहीनात् स्पर्शतन्मात्राच्छब्दतन्मा

ङ्काद् । नभसः परमाणुस्त्वेकस्मादेव शब्दतन्मात्राज्जायत  
ते प्रक्रिया । अतो विकारेभ्यः परमाणुभ्य उपादानानि पञ्च-  
मात्राणि सूक्ष्माणि, तेभ्योऽप्यहङ्कारः सूक्ष्मः, तस्मादपि महान्,  
इतोऽपि प्रधानं, तद्वि लयं न गच्छतीत्यलिङ्गमुच्यते । ततः

सूक्ष्ममुपादानं नास्ति पुरुषस्य सत्त्वेऽप्यनुपादानत्वात् ।  
यो हि भोगापवर्गार्थी सन् पुरुषार्थनिमित्तके सर्गे निमित्त-  
त्वं भवति । तस्मात् सूक्ष्मग्राह्यसमापत्तिः प्रधानपर्यन्तेति  
द्वम् ॥ ४५ ॥

एवं स्थूले सूक्ष्मे च ग्राह्ये चतस्रः समापत्तय उक्ताः सम्यति  
सां संप्रज्ञातत्वमुपसंहरति :—

ता एव सवीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ग्रहणग्रहीत्रोरपि सविकल्पत्वनिर्विकल्पत्वभेदेन मानन्दा,  
नन्दमात्रा, सास्मिता, अस्मिता चेति चतस्रः समापत्तयो  
न्ति उक्तन्यायसाम्यात् । एवमष्टसमापत्तयो याः “ता”  
“सवीजः” समाधिः” संप्रज्ञातः । विवेकख्यात्यभावेन  
वीजसत्त्वात् सवीजत्वं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

तत्र निर्विचारसमापत्तेः फलतोऽतिशयमाह :—

निर्विचारवैशारद्योऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

रजस्तमोमलापेतस्य बुद्धिसत्त्वस्य स्वच्छस्थितिरूपवृत्ति-  
हः प्रधानान्तसूक्ष्मग्राह्यगोचरः यः सोऽयं निर्विचारसमाधि-  
रयं तस्मिन् सत्यक्रमेण परमाखादिप्रधानान्ततत्त्वसमूहा-  
नः स्वात्मनिष्ठः “अध्यात्मप्रसादः” भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

अस्य प्रसादस्य योगिसम्यतां संज्ञामाह :—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तत्र वैशारद्ये सति या प्रज्ञा निर्विचारा समाधिजन्या तस्य ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । ऋतमविकल्पितं सत्यं बिभर्तीति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । तस्याः क्लृप्तप्रमाणेभ्यो विषयताविशेष-  
माह ॥ ४८ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थ-  
त्वात् ॥ ४९ ॥

गवादिशब्दानां गोत्वादिसामान्ये शक्तिः, न व्यक्तिविशेषेषु तेषामान्येनाशक्यग्रहत्वात् । एवं व्याप्तिरपि वङ्गित्वादि-  
सामान्यं गृह्यते । अतः श्रुतानुमानप्रज्ञयोः सामान्यं वस्तु  
विषयः । तथा हि लोके शब्दलिङ्गज्ञानानन्तरं गोवङ्गादि-  
वस्तुमात्रं ज्ञायते न व्यक्तिविशेष इति स्वमाक्षिकमेतत् । ऐन्द्र-  
यिकप्रत्यक्षं यद्यपि गोपटादिविशेषविषयं तथाऽपि सूक्ष्मव्यव-  
हितविप्रकृष्टवस्तुविशेषः समाधिप्रज्ञाया असाधारणो विषयः ।  
न च सूक्ष्मादिषु श्रुतानुमानप्रकाशितेषु प्रसरन्ती समाधिप्रज्ञा  
कथं स्वमूलश्रुतानुमानागोचरविशेषगोचरा स्यादिति वाच्यम् ?  
बुद्धेः स्वतः सर्वग्रहणशक्तत्वात् । बुद्धिसत्त्वं हि प्रकाशस्वभावं  
सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि तमसाऽऽवृतं सदृ मानमपेक्ष्यात्पविषयं  
भवति । यदा तु समाधिना विगततमः पटलं सर्वतः प्रकाश-  
मानमतिक्रान्तमानमर्यादं भवति तदा प्रकाशानन्त्यात् किं  
नामागोचरः स्यात् । तस्मात् समाधिप्रज्ञा विशेषार्थगोचरत्वाद्  
मानान्तरविषयादन्यविषयेत्यर्थः । तदुक्तम् :—

“प्रज्ञाप्रसादमारुह्य ह्यशोच्यः शोचतो जनान् ।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुशोचति ॥” इति ।

जनान् समाधिशून्यान् मानभृत्यानित्यर्थः ॥ ४९ ॥

नन्वनादिना शब्दादिविषयभोगसंस्कारिणातिबलीयसाऽभिहता  
समाधिप्रज्ञा न स्थितिं लभत इत्यत आह :-

**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥**

निर्विचारसमाधिप्रज्ञाजन्यः, “संस्कारो” व्युत्थानसंस्कारस्य  
“प्रतिबन्धी” बाधक इत्यर्थः । अनादिरपि व्युत्थानसंस्कारस्तत्त्वा-  
स्पर्शित्वात् तत्त्वस्पर्शप्रज्ञासंस्कारेण बाध्यते । तद्बाधे व्युत्थान-  
प्रत्यया न भवन्ति । समाधिप्रज्ञा तु भवति । ततः संस्कारः पुनः  
पुनरिति समाधिसंस्कारोपचयात् सर्वात्मना क्लेशक्षये सति भोगा-  
न्निर्विण्णं चित्तं पुरुषाभिमुखं विवेकख्यातिं कृत्वा कृतकत्वं लीनं  
भवति समासाधिकारत्वात् ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टित-  
मिति ॥ ५० ॥

ननु सम्प्रज्ञातसमाधिप्रज्ञासंस्कारप्रचुरं चित्तं तत्प्रज्ञापरम्परा-  
मेव कुर्वत् कथं निर्वीजसमाधिं कुर्यादित्यत आह :-

**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वीजः समाधिः ॥५१॥**

पुरुषख्यात्यनन्तरं परवैराग्यसंस्कारप्रचयेन “तस्य”संप्रज्ञात-  
समाधिप्रज्ञासंस्कारस्य “अपि” शब्दात् प्रज्ञायाश्च “निरोधे” सति  
सर्वस्य प्रज्ञातज्जसंस्कारप्रवाहस्य निरोधादवसिताधिकारत्वेन  
चित्तस्य कृत्वाभावात् “निमित्तापाये नैमित्तिकापाय” इति-  
न्यायेन निर्वीजः समाधिर्भवति । तदुक्तम् :-

“आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥” इति ।

अवसेन, मननेन, पुरुषमात्रध्यानाभ्यासो धर्ममेधाख्यः तद्वसेन  
परवैराग्येण प्रज्ञाप्रसादात्मना, पुरुषं साक्षात्पुर्वनिर्वीजं गेहं  
लभत इत्यर्थः । कालक्रमेण निर्वीजनिरोधसंस्कारप्रच-  
३

संप्रकृतौ चित्तं लीयते हेत्वभावात् । कृत्यशेषलक्षणाधिकारो  
हि चित्तस्य स्थितिहेतुः । न हि कृतभोगविवेकख्यातिनचित्तस्य  
कृत्यशेषोऽस्ति । तस्माच्चित्तस्य प्रलये पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठः  
केवलो मुक्त इति सिद्धम् ॥ ५१ ॥

इति समाधिर्पादः ॥ १ ॥

### साधनपादः ।

पूर्वस्मिन् पादे योगसुद्दिश्य लक्षणमुक्त्वा वृत्तीर्निरूप्य तन्नि-  
रोधोपायाभ्यासवैराग्ये प्रतिपाद्य चित्तस्थित्युपायान् कांश्चिदुक्त्वा  
द्विविधो योगः सावान्तरभेदः प्रतिपादितः । तत्राभ्यासवैराग्ये  
चित्तशुद्धिसाधये इति मत्वा तस्य शुद्धिहेतुमादौ क्रियायोग-  
माह :—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

पूर्वपादोक्तस्य योगस्यास्मिन् पादे साधनान्युच्यन्त इत्यनयोः  
पादयोः सङ्गतिः । ब्रह्मचर्य्यगुरुसेवासत्यवचनकाष्ठमौनाकारमौन-  
स्वाश्रमधर्मइन्द्रसहनमिताशनादिकं “तपः” । न कायशोषः ।  
धातुवैषम्ये योगविधातात् । “स्वाध्यायः” प्रणवश्चैकद्रपुरुषसूक्ता-  
दीनां पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं च । फलाभिसन्धिं  
विना कृतानां कर्मणां परमगुरावीश्वरे समर्पणं “ईश्वरप्रणि-  
धानं” तानि क्रियारूपो योगो योगसाधनत्वादित्यर्थः ।

क्रियायोगस्य फलमाह :—

समाधिभावनाऽर्थः क्लेशतनूकरूपार्थश्च ॥२॥

निविष्टेषु क्लेशेषु सक्तुः समाधिर्न सिध्यति । तस्मात् क्रिय-

योगः क्लेशान् तनूकृत्य समाधिं भावयति । तनूकरणं क्लेशानां सदोद्भवतां कादाचित्कउद्भवः । भावनं समाधेरुत्पादनम् । तदर्थः फलं यस्य स तथोक्तः । क्रियायोगेन क्लेशच्छिद्रेषु लब्धावसरः समाधिः विवेकख्यातिमुत्पाद्य सवासनक्लेशान् दहतीति भावः॥२॥

अथ क्लेशाः कोट्यशाः कियन्तो वेत्यत आह :—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः॥३॥

क्लिश्यन्ति कर्मतत्फलप्रवर्त्तकाः सन्तः पुरुषं दुःखाकुर्वन्तीति “क्लेशाः” ते च “पञ्च” इत्यर्थः ॥ ३ ॥

तत्र चतुर्णामविद्याकार्यत्वेनाविद्याऽऽत्मत्वमाह :—

अविद्या चैत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदा-  
राणाम् ॥ ४ ॥

उत्तरेषामस्मितादीनाम् “अविद्या” “चैत्र” प्रसवभूमिः । तेषामवान्तरभेदमाह । प्रसुप्तेति । प्रसुप्ताः, तनवो, विच्छिन्ना, उदाराश्च तेषाम् । तत्र विदेहप्रकृतिलयानां योगिनां क्लेशाः प्रसुप्ताः विवेकख्यात्यभावेनादग्धतया शक्तिरूपेणावस्थानात् अत एवान्ते पुनरुद्भवन्ति । क्रियायोगिनां तनवः । विषयसङ्गिनां विच्छिन्ना, उदाराश्च भवन्ति । यथा चैत्रस्य यस्यां रोगस्तत्र क्रोधो विच्छिन्नो रागः उदारः । एवं यत्र क्रोध उदारस्तत्र रागो विच्छिन्नः, कालेनोदारो भूत्वा पुरुषपशुं क्लेशयति । एते क्लेशा अविद्यामूलाः । तस्याः पुरुषापरोक्षख्यात्या निवृत्तौ निवर्त्तन्ते । यथा जीवन्मुक्तस्य क्लेशाः । क्षीणा इति पञ्चमी क्लेशानामवस्था द्रष्टव्या ॥ ४ ॥

तेष्वविद्यारूपमाह





अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखा-  
त्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यर्थः । अमरा देवा इत्यनित्येषु नित्यत्व-  
भ्रान्त्या देवत्वार्थं कर्म कृत्वा बध्यन्ते । एवमशुचौ स्त्रीकाये शुचि-  
त्वभ्रान्त्या बध्यन्ते । तदुक्तं भगवता वेदव्यासेन :—

“स्थानाहीजादुपष्टम्भान्निष्पन्नान्निधनादपि ।

कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥” इति ।

विष्णु त्रसङ्कुलं मातुरुदरं स्थानं, शुकशोणितं वीजम्, अन्न-  
परिणामश्लेष्मादिरुपष्टम्भः, सर्वद्वारैर्मलानां स्रवणं निष्पन्दः,  
निधनं मरणं, तेन हि श्रोत्रियकायोऽप्यत्यन्ताशुचिर्भवति ।  
आधेयशौचत्वं स्नानानुलेपनादिना शुचित्वापादनं, तथा परि-  
णामदुःखे भोगे सुखत्वभ्रान्तिः । अनात्मनि बुद्ध्यादावात्मत्व-  
स्थितिः । “अविद्या” तत्त्वविद्याविरोधिनीत्यर्थः । यद्यपि शुक्ति-  
रूप्याद्यविद्याः सन्ति तथाऽपीयं चतुर्विधैवाविद्या बन्धमूलमिति  
भावः ॥ ५ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवासमिता ॥ ६ ॥

दृक्शक्तिः पुरुषः, दृश्यत इति दर्शनं तच्छक्तिः बुद्धिः, शक्ति-  
शब्दो योग्यताऽर्थकः भोक्तृभोग्यत्वयोग्ययोरत्यन्तविविक्तयोर्दृग्-  
दृश्ययोरविद्याकृतैकात्मता तादात्म्यम्, “इव” शब्देनाहमस्मीति-  
भ्रान्तिकृतत्वं तादात्म्यस्य द्योतयति । सा “अस्मिता” इत्यर्थः ।  
अयं हृदयग्रन्थिरित्युच्यते ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥

अस्मितायाः कार्यं रागं निरूपयति :—

मुखानुशयौ रागः ॥ ७ ॥

सुखानुभवे सति स्मृत्या तज्जातीयसुखान्तरे तत्साधने वा या  
 दृष्ट्या स “रागः” सुखमनुशेते विषयीकरोतीति “सुखानुशयी”  
 इत्यर्थः ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखानुभवितुः स्मृत्या दुःखतत्साधनयोर्यः क्रोधः स द्वेष  
 इत्यर्थः ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

“विदुषो”, मूर्खस्य वा जन्तुमात्रस्य यो मरणत्रासः सः  
 “अभिनिवेशः” । यथा मूर्खस्याहं सदा स्यामिति रूढत्रासः तथा  
 विदुषोऽपि रूढो दृश्यते । यतः “स्वरसवाही” सः पूर्वजन्मस्वस-  
 क्त्वास्मरणदुःखानुभवजन्यवासनासङ्गः स्वरसः । तेन वहति प्रवह-  
 तीति स्वरसवाही । अनेन भयेन देहातिरिक्तात्मा भाष्ये प्रसङ्गा-  
 द्दर्शितः । दृश्यते हि जातमात्रस्य बालस्य मरणाद्भयं तच्च पूर्व-  
 मरणस्मरणं विनाऽनुपपन्नमिति । एते चाविद्याऽऽदयः पञ्च  
 क्रमेण तमो, मोहो, महामोहः, तामिस्र, अन्धतामिस्र, इत्यु-  
 च्यन्ते । तत्राव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वष्टस्वनात्मस्ताम्बुद्धि-  
 रविद्या तमः, अणिमाद्यष्टैश्वर्येषु अणुरस्मि महानस्मीति  
 तादात्म्यं मोहः, तेन दिव्यादिव्यभेदेन शब्दादिदशविषयेषु  
 रागो महामोहः, कुतश्चिदैश्वर्यविघाते तन्निमित्तकदशविषय-  
 भोगालाभे सत्यष्टादशेष्टविघातके द्वेषस्तामिस्रः, एतेषामेवाष्टा-  
 दशानामिष्टानां नाशान्नयमन्धतामिस्र, इति । तथा च सांख्य-  
 कारिका :—

“भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।

तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥” इति ॥ ९ ॥

ते च पञ्चक्लेशा द्विविधाः । पुरुषस्यात्या दग्धाः संस्कार-  
रूपाः सूक्ष्माः, क्रियायोगेन मैत्र्यादिभावनारूपपरिकर्मणा च  
तनूकताः स्थूला, इति । तत्र सूक्ष्माणां हानोपायमाह :—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

चित्तस्य कृतकृत्यस्यास्मितायां स्वप्रकृतौ प्रलयः “प्रतिप्रसवः”  
तेन “हेयाः” “सूक्ष्माः” “ते” क्लेशाः । धर्मिनाशादेव तद्धर्माणां  
संस्काराणां नाश इत्यर्थः ॥ १० ॥

स्थूलानां हानोपायमाह :—

१७४०/६ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

याः क्रियायोगेन विरलाः क्लेशवृत्तयः स्थूलाः सुखदुःखमोहा-  
त्मिकाः, ताः पुरुषध्यानेनैव ह्यतः इत्यर्थः । यथा लोके वस्त्र-  
स्यातिस्थूलो मलः प्रक्षालनेनैवादी शोध्यते । पश्चाद्विरलः क्षार-  
संयोगादिना । मलवासना तु वस्त्रनाशेनैव नश्यति । तथा  
क्रियायोगेनातिनिविडाः क्लेशा विरला भवन्ति । विरलास्तु  
ध्यानेन तनूकताः । सूक्ष्मास्तु चित्तनाशेन नश्यन्तीति भावः ॥ ११ ॥

क्लेशान्निरूप्य ननु कथं तेषां क्लेशत्वमित्याशङ्क्य कर्म-  
तत्फलमूलत्वेन बन्धकत्वात्तेषां क्लेशत्वमित्याह :—

क्लेशमूलः कर्माश्रयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

अत्र त्रिभिः पदैः क्रमेण कर्मणो हेतुस्वरूपकार्याण्युच्यन्ते ।  
आश्रिते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याश्रयः कर्मणां धर्मा-  
धर्मरूपः संस्कारः । क्लेशाः कामक्रोधादयो मूलमस्येति “क्लेश-  
मूलः” । स च द्विविधः । दृष्टजन्मवेदनीयः, अदृष्टजन्मवेदनीय  
संति । येन देहेन कर्म कृतं तद् दृष्टं जन्म, तेनैव देहेन भोक्तव्य

आद्यः । यथा नन्दीश्वरो बाल एव मनुष्यदेहेन तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिः ईश्वराराधनं कृत्वा सद्य एव देवत्वजातिं, दीर्घमायुः, दिव्यभोगांश्च लब्धवान् । तथा विश्वामित्रो जात्यायुषी लब्धवान् । तथा भीतव्याधितकृपणविश्वस्तमहाऽनुभाविषु कृतोऽपराधः सद्य एव पच्यते । यथा नहुषस्य महर्ष्यपराधेन सद्यः सर्पत्वमभवत् । द्वितीयस्तु जन्मान्तरभोग्यस्वर्गनरकादिहेतुः “कर्माशयः” इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अयं क्षीणक्लेशानां नास्तीति विशेषमाह :—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

क्लेशरूपे “मूले” “सत्येव” कर्मणो “विपाकः” फलं भवति । न ह्यक्लेशो भुङ्क्ते । न ह्यकामस्य क्वचिदपि कर्मजं फलं सुखवृद्धिरस्ति । न ह्यनुद्वेगः शोचति । अतो विवेकस्यात्यग्निग्धेषु क्लेशेषु कर्मबीजं वितुषव्रीह्यादिवत् न फलं प्रसूते । स विपाकस्त्रिविधः । जातिर्जन्म देवत्वादिव्रा, आयुश्चिरकालं देहप्राणयोर्योगः, इन्द्रियैर्विषयानुभवो भोग, इति । तत्र भोगो मुख्यः, जात्यायुषी तच्छेष, इति विभागः । तत्रैकस्मिन् देहे वेचित्वभोगदर्शनादनेकानि कर्माणि मरणकालाभिव्यक्तानि एव जन्मारभन्त इत्येकभविकः कर्माशय उच्यते । तस्य क्वचिजातिः, क्वचिदायुः, क्वचिद्भोगः, क्वचिद्द्वयं, क्वचिच्चयमिति तत्रैवेचित्वं ज्ञेयम् । तदुक्तं भगवता “गहना कर्मणो गतिः” इति । विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ॥ १३ ॥

अधना जात्यादीनां हेयत्वार्थं फलमाह :—

ते ह्यादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

“ते” जन्मायुर्भोगाः । पुण्यहेतुकाः सुखफलाः । अपुण्यं

पापं तद्धेतुका दुःखफला । अत्र भोगो विषयानुभवः । मित्रास्तु-  
 “सुखदुःखानुभवो भोगः तस्य कर्मतया साध्यत्वेन सुखदुःखे  
 फले गमनस्येव ग्रामः” इत्याहुः ॥ १४ ॥

ननु ते दुःखफला हेया भवन्तु सुखफलास्तु कथं हेया  
 इत्यत आह :—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च  
 दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

“परिणामः” अन्यथाभावः । “तापः” वर्त्तमानः । “संस्कारः”  
 भूतः । एतान्येव दुःखानि तैरिति विग्रहः । तथा हि । विषय-  
 सुखभोगात् कामानलो वर्द्धते । वृद्धौ सत्यां काव्यालामे दुःखम-  
 वश्यं भावि । लाभेऽपि कुतश्चिद्भोगसङ्कोचे दुःखम् । सङ्कोचके  
 द्वेषः । ततः कामद्वेषाभ्यां पापोपचयाद् दुःखम् । असङ्कोचे  
 व्याधिः पापञ्च । ततो दुःखमेवं भोगस्य परिणामदुःखता ।  
 तथा सुखभोगकाले विषयनाशभीत्या दुःखं वर्त्तते । नाशके  
 द्वेषाच्च तापोऽस्तीति तापदुःखता भोगस्य । तथा सुखभोगनाशे  
 संस्कारो भवति तेन स्मृत्या रागे सति पुण्यापुण्योपचयाद् दुःख-  
 दुःखभोगः पुनः संस्कार इत्यनन्ता दुःखसन्ततिः । यदि भोग-  
 नाशे संस्कारो न स्यात् तदा न दुःखसन्ततिः । भवत्येव तु  
 संस्कार इति संस्कारदुःखता । इमानि दुःखानि विवेकिनोऽ-  
 च्छिपात्रकल्पस्य योगिन उद्देजकानि । न तु कठिनचित्तानां  
 कर्मिणाम् । यथाऽच्छिपात्रं मृदुकल्पः ऊर्णतन्तुरपि उद्देजयति  
 नान्यमवयवम् । तस्माद्विवेकिनः सर्वमेव भोगसाधनं विषमित्रा-  
 न्नवदुःखमेव “परिणामतापसंस्कारदुःखैः” योगाद् “गुणवृत्ति-  
 विरोधाच्च” । गुणाश्चित्तात्मना परिणतानि सत्त्वरजस्तमांसि तेषां  
 वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासां विरोधः परस्परमभिभाव्याभि-

भावकत्वं तस्मादित्यर्थः । अलं हि गुणवृत्तं तत्र चित्ते या गुण-  
वृत्तिराविर्भवति धर्मोद्भवात्सा पुनरधर्मोद्भवाद्धर्माभिभवे सति  
तिरोभवति । दुःखत्वं स्वाभाविकं स्रक्साः स्फुटयति स्वभावतो  
दुःखरूपैव सुखवृत्तिः दुःखात्मकरजोमिश्रसत्त्वपरिणामत्वात्  
किन्तु स्वकाले सत्त्वप्राधान्यात्तस्याः दुःखत्वमस्फुटं रजसः सत्त्व-  
तिरोभावे सति स्फुट्यमिति सुखदुःखयोर्भेदव्यपदेशः । एतेन  
सुखस्य मोहत्वं व्याख्यातम् । अतो गुणपरिणामात्मकं सर्वमेव  
जगद् दुःखमोहात्मकं हेयमिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

तत्र यथा चिकित्साशास्त्रे रोगो, रोगहेतुः, आरोग्यं, तद्धेतु-  
रिति चतुष्टयं व्युत्पाद्यं तथाऽस्मिन्नपि शास्त्रे हेयं, हेयहेतुः,  
मोक्षः, तद्धेतुरिति चतुष्टयं व्युत्पादयितुं विशिष्य हेयं  
दर्शयति :—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अतीतस्य दुःखस्य भोगेन गतत्वाद्दर्शनमानदुःखस्य भोगेनैव  
चयात् “अनागतं” एव “दुःखं” “हेयं” इत्यर्थः ॥ १६ ॥

हेयहेतुमाह :—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषो बुद्धिस्थस्वच्छायाऽऽत्मकदर्शनवान् ।  
दृश्यं बुद्धिसत्त्वम् । तयोः “संयोगः” स्वस्वामिभावः । बुद्धिसत्त्वं  
हि विविधशब्दाद्याकारेणैन्द्रियादिद्वारा परिणतं चिच्छायाऽऽ-  
गत्या पुरुषाभेदेन दृश्यमानं सन्निधिमात्रेणायस्कान्तमणिवदुप-  
कारकं स्वनिष्ठभोगापवर्गौ पुरुषं दर्शयत् स्वं भवति पुरुषस्य  
स्वामिनः । सोऽयमभेदभ्रान्तिरूपाविद्याकृतः पुरुषार्थाधीन-  
स्थितिकः संयोगो हेयस्य दुःखस्य हेतुरित्यर्थः ॥ १७ ॥

दृश्यं प्रपञ्चयति :—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगा-  
वर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशशीलं सत्त्वम् । क्रियाशीलं रजः । स्थितिः प्रका-  
शक्रिययोः प्रतिबन्धः तच्छीलं तमः । तत्र सत्त्वं मृदुत्वान्तप्य-  
तापकं रजः । एवं सत्त्वरजसोस्तप्यतापकभावे सति मो-  
भवति पुरुषस्य ममतयेति । तदिदं गुणत्रयं स्वस्वकार्यं मिश्र-  
सहायमविवेकि भोग्यं विवेकित्याज्यं परस्परविभावकं प-  
रस्यराङ्गाङ्गिभावं सुखप्रकाशलाघवदुःखक्रियोपष्टम्भमोहावर-  
गौरवकार्यलक्षणत्रेयमेदं स्वतः परस्परविभागाद् दुर्ज्ञानमे-  
प्रधानशब्दवाच्यं “भूतेन्द्रियात्मकम्” । भूतानि स्थूला-  
तन्मात्राणि, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दश, बुद्धग्रहङ्का-  
मनांसि त्रीण्यन्तःकरणानि, आत्मा स्वाभिन्नः परिणामो य-  
तद् “भोगापवर्गार्थं” भोगमोक्षप्रयोजकं “दृश्यम्” इत्यर्थः ॥१८॥

एतेषां गुणानां परिणामं विभज्य दर्शयति :—

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वणि ॥१९॥

विशिष्यन्त इति विशेषा व्यावृत्ताः षोडशविकाराः खवा-  
तेजोऽवयवयः स्थूलभूतानि पञ्च, ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दश, स-  
चेत्येते षोडशविकारा एव न तत्त्वान्तरप्रकृतयः । एत-  
विकाराणां प्रकृतयो बुद्धेर्विकृतयः षड्विशेषाः पञ्चतन्मात्रा-  
ङ्काराः । अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणीति “साङ्ख्याः” । अहङ्क-  
स्यानुजानि बुद्धेरपत्न्यानि तन्मात्राणीति “योगाः” । तत्र प-  
तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि स्थूलभूतानां प्रकृतय-  
अहङ्कारः सत्त्वे न रजसा उभयेन ज्ञानकर्मेन्द्रियमनसां प्रकृति

तयं गच्छतीति लिङ्गं तस्मात्तं महत्तत्त्वं मात्रपदेन च विशेषाऽ-  
वेशेषाभ्यां वैलक्षण्यं द्योत्यते । तच्च निर्विकल्पकाध्यवसाय-  
प्रकं प्रधानस्याद्यकार्यम् । अलिङ्गं गुणानां साम्यावस्थारूपं  
प्रधानम् । एतानि चत्वारि गुणानां पर्वाणि परिणामाः गुणत्वं  
हेतुं प्रति शेषत्वं मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

एवं दृश्यं निरूप्य द्रष्टारं निरूपयति :—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

“द्रष्टा” पुरुषः “दृशिमात्रः” चिन्मात्रो न ज्ञानादिधर्मकः ।  
प्रतः “शुद्धः” अपरिणाम्यपि प्रत्ययं बुद्धिवृत्तिमनुसृत्य पश्यतीति  
‘प्रत्ययानुपश्यः’ स्वस्य बुद्ध्याविवेकात् वृत्तिभिरेकीभूतः शब्दा-  
दीन् पश्यतीत्यर्थः । तदुक्तं “वृत्तिसारूप्यमितरत्र” इति ॥ २० ॥

एवं दृश्यद्रष्टारावुक्तौ तयोः शेषशेषित्वमाह :—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

“दृश्यस्य” भोग्यस्य स्वरूपं द्रष्टुरर्थमेव न स्वार्थम् अचेतन-  
त्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

ननु तर्हि द्रष्टुः प्रयोजने निष्पन्ने सति कल्याभावाददृश्यं  
प्रधानं निर्व्यापारं स्यात् तथा चाधुना संसारो नोपलभ्येतेत्यत  
आह :—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

प्रधानमेकं पुरुषा अनन्ता इति स्थितिः । अजामेकामिति  
‘श्रुतेः’ । तत्र प्रधानं यं पुरुषं प्रति भोगापवर्गौ कृतवत् स कृतार्थः  
त्वामित्वात् । यथा मृत्येन कृतजयेन स्वामी कृतजय-  
इत्युच्यते । तद्वत् “कृतार्थं” मुक्तपुरुषं “प्रति” नष्टमदर्शनं मत-



मपि तद्दृश्यं “अनष्टं” पुरुषान्तरसाधारणत्वात् । एतदुक्तं भवति  
पुरुषार्थो ह्यनागतावस्थः प्रधानस्य प्रवृत्तिहेतुः । तत्र कृतार्थं  
प्रति प्रवर्त्तकाभावात् प्रधानस्याप्रवृत्तावपि अकृतार्थं प्रति मह-  
दाद्याकारेण प्रवृत्तिर्घटते । तथा चैकस्य मुक्तौ सर्वेषां मुक्ति-  
प्रसङ्गो नास्तीति ॥ २२ ॥

एवं दृश्यद्रष्टारौ व्याख्याय हेयहेतुं संयोगं निरूपयति :—

**स्वस्वामिशक्तयोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥**

स्वं दृश्यं तस्य शक्तिर्जडत्वेन दृश्यत्वयोग्यता । स्वामी तु  
पुरुषस्तस्य शक्तिश्चेतनत्वेन द्रष्टृत्वयोग्यता स्वरूपात्मिकैव । तयोः  
स्वस्वामिस्वरूपयोः शक्तयोः विविधशब्दाद्याकारदृश्यबुद्धिस्वस्व-  
रूपस्योपलब्धिर्भोगः । स्वामिस्वरूपस्योपलब्धिरपवर्गः । तद्देतुः  
“संयोगः” स्वस्वामिभावाख्यः । स एव द्रष्टृदृश्यभावो भोक्तृ-  
भोग्यभाव इत्याख्यायते । यस्याभावे दृग्दृश्ययोः स्वरूपोप-  
लब्धिर्न भवति यद्भावे सा भवति स संयोगः कार्येणैव ज्ञेय  
इत्युपदिष्टं भवति ॥ २३ ॥

एवं संयोगस्य स्वरूपं कार्यं चोक्त्वा कारणमाह :—

**तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥**

भ्रान्तिज्ञानवासना संयोगस्य कारणमित्यर्थः । अहमिति  
दृग्दृश्ययोरभेदप्रत्ययो भ्रान्तिः । तद्वासनावसितं चित्तं प्रलये  
लीनं प्रधानभावमुपगतं सर्गकाले पुरुषं प्रति स्वस्वेनैव जायते ।  
तेन संयोगेनाविवेकिनो बन्धो विवेकिनो मोक्षश्च भवति एतय  
ह्यनादिवासनाविचित्रया चित्तवर्त्तिन्या अविद्यया समम् । तत  
मत्स्यजालमिवानुविष्टं पुरुषपशुं स्वकर्मापहितं दुःखमुपा-  
त्यजन्तं, त्यक्तमुपाददानं, हातश्च एवानात्मन्यङ्गारममकारानु

प्रतिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा  
अनुप्लवन्ते ॥ २४ ॥

एवं हेयं तद्धेतुं चोपपाद्य हेयस्य हानं मोक्षं व्युत्पादयतिः—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः

कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तस्या अविद्याया अभावाद्विद्यया नाशात्तत्कार्यस्य बुद्धिपुरुष-  
संयोगस्य दुःखस्य हेयस्य हेतोरभावो विनाशो “हानं” यत्तदेव  
“दृशेः” नित्यमुक्तस्य “कैवल्यम्” इत्यर्थः ॥ २५ ॥

मोक्षमुक्त्वा तद्धेतुमाह :—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

दृग्दृश्ययोर्भेदो विवेकस्तस्य ज्ञानं ख्यातिः । विप्लवो मिथ्या-  
ज्ञानम् । आदौ खल्वागम्यान् सामान्यतो विवेकख्यातिरुदेति  
साज्ञाद्यविद्यां न हन्ति परोक्षत्वात् । यदा सा मननेन स्थापिता  
सती सर्वतो विरक्तेन पुरुषाभिमुखेन चित्तेन निरन्तरमभ्यस्यते  
तदा ध्यानप्रकर्षपर्यन्तं चित्रातिपिब्रवती साक्षात्काररूपा  
सवासनमिथ्याज्ञानं निहन्ती “अविप्लवा” सती परवैराग्यपूर्वक-  
निरोधेन संस्कारशेषस्य कृतकत्वस्य प्रारब्धावसाने आत्यन्तिक-  
निवृत्तिद्वारा भाविदुःखहातव्यस्य मोक्षस्योपाय इत्यर्थः ॥ २६ ॥

स्थिरविवेकख्यातेर्जीवबुद्धस्य ज्ञानवैभवात्तदः—

तस्य सप्तधा प्रान्तवृत्तिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

प्रकटोऽन्तोऽवसानं पञ्चदशेन प्रान्तवृत्तिः प्रज्ञा इति  
यावत् । प्रान्ता भूतलोऽवस्था ॥ २७ ॥ प्रज्ञा “प्रज्ञा”  
स्थिराविप्लवाभावात्तद्विदुषः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

प्रज्ञाऽवस्थास्वरमा भवन्ति । ज्ञातव्यमखिलं ज्ञातमतः परं न किञ्चित् ज्ञातव्यमस्तीत्येका । सर्वजिज्ञासानिवर्त्तकत्वादियं प्रान्ता न हीयमनात्मज्ञस्य सम्भवति ततस्तदालम्बनसमाधिना प्रधानान्त-प्रज्ञायां स्थिरायामपि आत्मजिज्ञासायाः सत्त्वेन तत्प्रज्ञाया अचरमत्वात् । एवमग्रिमावस्थानां प्रान्तत्वं मन्तव्यम् । हातव्याः सर्वे बन्धहेतवो हताः न किञ्चिन्मम हेयमस्तीति द्वितीया । कैवल्यप्राप्त्या प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तमतोऽन्यन्न किञ्चिदपि मम प्राप्तव्यमस्तीति तृतीया । विवेकख्यातिसम्पादनेन कर्त्तव्यमखिलं कृतं न किञ्चित् कार्यमस्तीति चतुर्थी । एतादृशतस्तः कार्य-विमुक्तिसंज्ञाः । चित्तविमुक्तिसंज्ञाः तिस्रः । यथा कृतार्थं मे बुद्धि-सत्त्वमित्येका । बुद्ध्यादिरूपा गुणा अपि गिरिशिखरच्युता इव आवाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सम्पातेनास्त-मात्यन्तिकं गच्छन्ति तेषां नास्ति पुनः प्ररोहः प्रयोजनाभावादिति द्वितीया । तथा गुणातीतः स्वरूपमात्रावस्थितश्चिदेक रस इति तृतीया । प्रज्ञाऽवस्थेत्यर्थः । जिज्ञासाजिज्ञासाप्रेप्साचिकीर्षा-शोकभयविकल्पान्तफलाः सप्त प्रज्ञाभूमयः प्रान्ता मन्तव्या इत्यर्थः ॥ २७ ॥

सम्प्रति प्रज्ञासाधनान्याह :—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिचये ज्ञानदीप्तिरावि-

वेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगाङ्गानां योगस्य चानुष्ठानादशुद्धेः क्लेशकर्मरूपायाः क्रमेण चये जायमाने ज्ञानस्य दीप्तिर्विशुद्धिः आनिर्विकल्पविवेक-ख्यातेर्भवतीत्यर्थः । साङ्ख्ययोगानुष्ठानशुद्धिद्वारा प्रज्ञासाधनमिति भावः ॥ २८ ॥

कानि योगाङ्गानीत्यत आह :—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-  
समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २८ ॥

अन्यानपेक्षत्वेन सफलत्वाद् यमा आदावुच्यन्ते । पश्चात्  
यमसापेक्षा नियमाः । एतदुभयाधीनशुद्धापेक्षा आसनादय उक्त-  
रोत्तरहेतवः पश्चादुच्यन्ते ॥ २८ ॥

एतेषां योगिभिरूपादेयविशेषमाह :—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

तत्राहिंसा नाम मनोवाक्यैः सर्वदा सर्वभूतानामपीडनं  
परः शुक्त एष धर्मः । अन्ये यमादयः एतस्या एव शुद्धार्थाः ।  
तथा चेत्तम् । स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि  
समादिक्षति तथा तथा प्रमादकृतभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्त-  
मानस्तामैवावदातरूपामहिंसां करोतीति । सत्यं परहितार्थं  
यथाऽर्थकथनम् । बलाद्रहसि वा परवित्तहरणं स्तेयं तदभावो-  
ऽस्तेयं परद्रव्यास्पृहेत्यर्थः । ब्रह्मचर्यम् उपस्थसंयमः । स्त्रियाः  
प्रेक्षणालापस्पर्शश्रवणध्यानत्यागः तदङ्गम् । अपरिग्रहो नाम  
देहयात्राऽतिरिक्त-भोगसाधनास्वीकारः । एते पञ्च यमाः  
योगस्य विरोधिहिंसाऽनृतस्तेयस्त्रीसङ्गपरिग्रहनिरासकत्वेनाङ्गत्वं  
भजन्ते ॥ ३० ॥

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा

महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जातिर्गोत्रब्राह्मणत्वादिः । देशस्तीर्थादिः । कालो नियत-  
सप्तर्दश्यादिः । अनियतो ब्राह्मणभोजनाद्यवसरः समयः । तत्र  
सदा गोब्राह्मणं न हनिष्यामीत्यहिंसा जात्या परिच्छिन्ना ।

कमपि तीर्थे वा चतुर्दश्या वा न हनिष्यामीति देशकालाभ्याम-  
वच्छिन्ना । देवब्राह्मणादयर्थभोजनादिसमयातिरेकेण न हनिष्या-  
मीति समयावच्छिन्ना । प्राणिमात्रं क्वचिदपि कस्यापि कृतेऽहं  
न हनिष्यामीति जात्यादिभिश्चतुर्भिर्नवच्छिन्ना । भवत्यहिंसा  
पुष्कला । एवं सत्यादयोऽपि अनवच्छिन्ना जहनीयाः । एवं  
सर्वासु जात्यादिषु भूमिषु कृताव्यवस्थासु विदिताः सार्वभौमा  
महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

नियमानाह :—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि

नियमाः ॥ ३२ ॥

शौचं मृज्जलादिकृतं गोमूत्रपावकादिमेध्याहारकृतं च  
वाह्यम् । आन्तरं मैत्रादिभावनया चित्तस्यासूयाऽऽदिमल-  
राहित्यम् । सन्तोषः सन्निहितप्राणधारणमात्रहेतुना तुष्टिः । तपो  
इन्द्रसहनं यथायोगं कृच्छादिकं च । स्वाध्यायः प्रणवाद्यभ्यासः ।

“ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यत्कारोमि शुभाशुभम् ।

तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

कर्मणा मनसा वाचा या चेष्टा मम नित्यशः ।

केशवाराधने सा स्याज्जन्मजन्मान्तरेष्वपि ॥”

इति परमगुरौ सर्वपुण्यकर्मार्षणमीश्वरप्रणिधानमित्यर्थः ३२

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

एतेषां यमनियमानां वितर्कहिंसाऽऽदिसङ्कल्पैर्हनिष्याम्येन-  
मपकारिणं, अनृतं वक्ष्यामि, परस्वमादास्ये, इत्यादिभिर्बाधने प्राप्ते  
सति यमादिपरो ब्राह्मणः प्रतिपक्षभावनं कुर्यात् घोरेषु संसा-

यमादिधर्माः स खल्वहं त्यक्त्वाऽहिंसाऽऽदीन् पुनस्तानाददान-  
सुख्यः श्ववृत्तेनेति । यथा श्वा वान्ताशी तथा त्यक्तस्य पुनरादातेति  
वितर्कप्रतिपक्षान् भावयेदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

सम्प्रति वितर्काणां स्वरूपप्रकारकारणावान्तरभेदफलानि  
पञ्चभिः पदैः क्रमेण वदन् प्रतिपक्षभावनं स्फुटयति :—

वितर्का हिंसाऽऽदयः कृतकारितानुमोदिता  
लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखान्ना-  
नान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

वितर्क्यन्त इति “वितर्का” “हिंसाऽऽदयः” इति स्वरूपोक्तिः ।  
तत्र हिंसा त्रिप्रकारा । स्वयंकृता, कुर्विति कारिता, साधु साध्वि-  
त्यनुमोदिता चेति । तत्रैकैका पुनस्त्रिविधा भवति कारणभेदात् ।  
मांसचर्मादिलोभेन, अपकृतमर्नेनेति क्रोधेन, धर्मो मे भविष्य-  
तीति मोहेन । एवं नवविधा जाता हिंसा । पुनः लोभक्रोधमोहाः  
प्रत्येकं त्रिविधा भवन्ति मृदुमध्याधिमात्रत्वेन तत्पूर्वका हिंसा-  
दयोऽपि मृदवो, मध्या, अधिमात्राश्च भवन्ति ; तथा कृता,  
कारिता, अनुमोदिता, च प्रत्येकं नवधा भवतीति हिंसायाः  
सप्तविंशतिभेदा भवन्ति । मृदुमध्याधिमात्रा अपि प्रत्येकं त्रिधा  
भवन्ति । मृदुमृदुः, मध्यमृदुः, तीव्रमृदुः, मृदुमध्यः, मध्यमध्यः,  
तीव्रमध्यः, मृदुतीव्रः, मध्यतीव्रः, तीव्रतीव्र, इति । एवं लोभो  
नवविधः । एवं क्रोधमोहाविति । तत्पूर्वा कृता हिंसा सप्तविंशति-  
भेदां भवति । तथा कारितानुमोदिता चेत्येकाशीतिभेदाहिंसा  
भवति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् । एवंभूता वितर्काः । दुःखं  
नरकादिकं, अज्ञानं स्थावरादिभावं भ्रान्तिसंशयरूपं, चानन्तं  
फलयतीति प्रतिपक्षाणां वितर्कशत्रूणां भावनमित्यर्थः । तेन  
क्षेपनिवृत्तेन वितर्का हेया इत्युपदिष्टं भवति । तद्वानि सति

निर्विघ्ना यमनियमा दश सिध्यन्ति । तत्सिद्धौ चित्तशुद्धिद्वारा कैवल्यम् । अतो योगः सिध्यतीति तात्पर्यम् ॥ ३४ ॥

सम्प्रति दशानां सिद्धिसूचकमवान्तरफलं क्रमेण दर्शयति :—

**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥**

अहिंसासिद्धौ सत्यां तस्याहिंसकस्य मुनिवर्यस्य सन्निधौ स्वभावविरुद्धानामहिनकुलादीनामपि “वैरत्यागो” भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥**

“सत्यप्रतिष्ठायां” सत्यां क्रिया धर्माधर्मरूपा, तत्फलं स्वर्गादिकं, तयोराश्रयो वाङ्मात्रेण दाता तस्य भावः तत्त्वं भवति । यथा धार्मिको भूया इत्युक्ते भवति धार्मिकः स्वर्गमाप्नुहीत्युक्तमात्रादधार्मिकोऽपि तथैव भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

**अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥**

अचौर्यदाढ्ये सति सर्वेषां दिव्यरत्नानामस्य सङ्कल्पमात्रेण प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

**ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः ॥ ३८ ॥**

वीर्य्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्य्यं तत्सिद्धौ निरतिशयं सामर्थ्यं भवति । येनाणिमाद्युपस्थितिर्भवति । शिष्येषूपदेशः सद्यः फलतीति भावः ॥ ३८ ॥

**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥**

अपरिग्रहशीलस्य तत्स्थैर्य्ये सति अतीतवर्त्तमानभावि जन्मनां या कथन्ता किम्यकारता तस्याः सम्यग्बोधो जिज्ञासा पूर्वको भवतीत्यर्थः । किं रूपं, जन्म किं प्रकारकं, किं हेतुकं

किं फलकं, किमवसानमिति शरीरपरिग्रहविरोधिनां जिज्ञासा भवति । ततः कार्यकारणसम्बन्धः पुरुषस्याजस्य जन्म, नरदेव-  
तिर्य्यक्त्वप्रकारं, क्लेशकर्महेतुकं, दुःखैकफलकं, पुरुषतत्त्व-  
सम्बोधावसानमित्याचार्यागमतो निश्चित्याशरीरः सन्नपरिग्रह-  
काष्ठामनुभवतीति भावः ॥ ३८ ॥

उक्ता यमसिद्धयः । अधुना नियमसिद्धय उच्यन्ते :—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

यो वाङ्मयशौचसिद्धः तस्य स्वाङ्गे काये शुद्धिमपश्यतो जुगुप्सा भवति । अशुचिस्वभावोऽयं कायः नात्राहङ्कारः कार्य इति । शौचपरस्य मम कायो न शुद्ध्यति, किमु प्रमत्तपरकाय ? इति दोषदर्शिनः परकायैरसंसर्गो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवं वाङ्मयशौचसिद्धिसुक्ताऽन्तःशौचसिद्धिमाह :—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रोन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्य-  
त्वानि च ॥ ४१ ॥

शौचादित्यनुवर्तते । भवन्तीति वाक्यशेषः । बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोमलेर्थादिमलध्वंसः शुद्धिः । ततः सत्त्वोत्कर्षः । ततः स्थैर्यम् । ततो वाङ्मयेन्द्रियजयः । ततः पुरुषस्यात्यर्हत्वमिति विभागः ॥ ४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

तृष्णाक्षयसिद्धा अवश्यं निष्कामस्य निरतिशयसुखानुभवो भवति शुद्धसत्त्वोत्कर्षात् ।

तथा च महाभारते ययातिगीता :—

“यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥” इति ॥ ४२ ॥



कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिचयात्तपसः ॥ ४३ ॥

स्वधर्मकच्छचान्द्रायणादिना क्लेशपापक्षयात् कायस्याणि-  
मादिसिद्धिरिन्द्रियाणां दूरसूक्ष्मार्थग्राह्यत्वसिद्धिर्भवति ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

इष्टमन्त्रादिजपात् स्वेष्टदेवतायाः सम्भाषणादि सिद्धयति ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरौश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य भक्त्यैव योगसिद्धिर्भवति । न चैवं  
सति यमादिसप्ताङ्गवैयर्थ्यं स्यादिति वाच्यम् । अङ्गैर्भक्त्या वा  
योगसिद्धिरिति विकल्पाभ्युपगमात् । तदुक्तम् । “ईश्वरप्रणि-  
धानाद्वा” इति । न वा भक्तिपक्षेऽङ्गवैफल्यं यमादीनां भक्तावप्यङ्गत्व-  
सम्भवात् । तेषां भक्तियोगोभयार्थत्वं दध्न इन्द्रियकृतूभयार्थत्व-  
वदविरुद्धम् । न चाङ्गानामावश्यकत्वे तैरेव सिद्धेः किं भक्त्येति-  
वाच्यम् । भक्तिहीनोपायैर्दूरे योगसिद्धिः भक्त्यमृतवर्षिभिरा-  
सन्नतमा योगसिद्धिरिति चिराचिरयोगरूपफलप्राप्तिसाधन-  
त्वेन विकल्पोपपत्तेः । सा चेश्वरे भक्तिः प्रत्यगात्मयोगविषय-  
भिन्नविषयेति वह्निरङ्गत्ववाचोयुक्तिरित्यनवद्यम् ॥ ४५ ॥

एवं यमनियमान् सह सिद्धिभिर्निरूप्यासनस्वरूपमाहः—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

निश्चलं सुखावहं च यदासनं तद्योगाङ्गमित्यर्थः । आस्यंते-  
ऽनेनेत्यासनम् । तद् द्विविधं वाच्यं शारीरं च । तत्र चैला-  
जिनकुशोत्तरं वाच्यं, शारीरं, पद्मस्वस्तिकादीति विशेषः । तत्र  
पद्मासनं प्रसिद्धम् । सव्यमाकुञ्चितचरणं दक्षिणजङ्घोर्वन्तरे,  
दक्षिणं च सव्यजङ्घोर्वन्तरे निक्षिपेदिति स्वस्तिकासनम् । द्वे

पादतले वृषणसमीपे सम्पुटीकृत्य सम्पुटोपरिपाणिसंपुटिकां  
न्यसेदिति भद्रासनं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

सम्प्रत्यासनस्थैर्योपायमाह :—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

स्वाभाविकः प्रयत्नश्चलत्वादासनविघातकः तस्योपरमेणासनं  
सिद्धयति । तेन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते नागनायके स्थिर-  
तरफणासहस्रविधृतविश्वमण्डले चित्तस्य समापत्त्या देहाभि-  
मानाभावेनासनदुःखास्फूर्त्तैरासनं सिद्धयति ॥ ४७ ॥

तस्मिन्निलिङ्गमाह :—

ततो हन्द्वा नभिघातः ॥ ४८ ॥

आसनजयात् शीतोष्णादिभिरताडनं भवति ॥ ४८ ॥

सम्प्रत्यासनसाध्यं प्राणायाममाह :—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः

प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनस्थैर्यं सति वाह्यकोष्ठवायोर्न्तर्वह्निर्गतिविच्छेदः  
प्राणायाम इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

सामान्यलक्षणमुक्त्वा लक्ष्यं प्राणायामं विभजते :—

वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो-  
दीर्घः सूक्ष्मः ॥ ५० ॥

प्राणायामश्चतुर्विधः । वाह्यवृत्तिरभ्यन्तरवृत्तिस्तम्भवृत्ति-  
सुरीयश्चेति । तत्र कोष्ठस्य वायो रेचनेन वह्निर्गतस्य वह्नि-  
रेव धारणं वाह्यवृत्तिः स च रेचकः । वाह्यवायोः पूरणेनान्त-  
र्गतस्यान्तर्धारणमभ्यन्तरवृत्तिः स च पूरकः । रेचनपूरण-

प्रयत्नं विना प्राणस्य केवलविधारकप्रयत्नेन गतिविच्छेदः  
 स्तम्भवृत्तिः स च कुम्भकः । नायं रेचकः अन्तस्थत्वात् । नापि  
 पूरकः तप्तशिलातलनिहितजलविन्दुवच्छरीरे प्राणस्य सङ्कुचित-  
 त्वेन सूक्ष्मत्वात् । यो हि स्थूलोऽन्तर्निरुद्धो देहं पूरयति स  
 पूरकः । तस्माद्रेचकपूरकाभ्यामेव विना सकृत्पूयत्नमात्रेण  
 सूक्ष्मप्राणस्य कुम्भकशब्दितस्य घटजलवन्निश्चलत्वेन देहेऽव-  
 स्थानात् कुम्भकस्तृतीयः सिद्धः । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देश-  
 कालसंख्याभिर्दीर्घः सूक्ष्म इति परिदृष्टः । तत्र रेचकस्य वाङ्मो  
 देशो विषयः प्रादेशवितस्तिहस्तादिपरिमितो निर्वाते नासाग्रे  
 इषीकातूलादिक्रियाऽनुमितः । पूरकादेस्त्वान्तरो देश आपाद-  
 तलमस्तकं पिपीलिकास्यर्शतुल्येन स्पर्शेनानुमितः । क्षण-  
 गणनया ज्ञेयः कालः । मात्रागणनया ज्ञेया संख्या । स्वजानु-  
 मण्डलं पाणिना त्रिःपरामृश्य छोटिकाऽवच्छिन्नः कालो मात्रा ।  
 सा हि स्वस्थंस्व पुंसः श्वासप्रश्वासाभ्यां मिता भवति । तत्र  
 षड्विंशतिमात्राभिरभ्यासक्रमेण दीर्घ इति दृश्यते । अधिक-  
 देशकालव्यापित्वं प्राणनिरोधस्य दीर्घत्वम् । यथा यथा दीर्घं  
 इति निपुणेन दृश्यते तथा तथा प्राणस्य सूक्ष्मत्वेन दर्शनादीर्घं  
 एव सूक्ष्म इति परिदृष्टो भवतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

तुरीयं प्राणायामं दर्शयति :—

वाङ्मोभ्यन्तरविषयाच्चेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

उक्तो वाङ्मोदेशविषयः, अभ्यन्तरविषयश्च हृदयनाभि-  
 चक्रादिः, तयोराच्चेपः सूक्ष्मदृष्ट्या पर्यालोचनं स यस्य पूर्व-  
 कालोऽस्ति स “चतुर्थः” स्तम्भवृत्तिः । तस्यापि दीर्घसूक्ष्मत्वं  
 पूर्ववत् । न चास्य कुम्भकान्तर्भावः शङ्कनीयः । रेचक-  
 पूरकयोरभ्यासेन जितवाङ्मोभ्यन्तरविषयनिश्चयं विनैव सकृत्

प्रयत्नमात्रेण स्तम्भवृत्तिः कुम्भकः । तन्निश्चयपूर्वकः स्तम्भवृत्ति-  
र्बहुप्रयत्नसाध्यसुरीय इति वैलक्षण्यादिति ॥ ५१ ॥

सम्प्रति चतुर्विधस्य प्राणायामस्य योगाङ्गत्वे द्वारभूतं  
फलमाह :—

ततः क्षीयते प्रकाशविवरणम् ॥ ५२ ॥

प्राणायामाभ्यासात् प्रकाशशीलस्य बुद्धिसत्त्वस्य पिधानं  
क्लेशपापरूपं “क्षीयते” । तदुक्तं मनुना सर्वज्ञेन । “प्राणायामै-  
र्हृद्दोषान्” इति ॥ ५२ ॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

किञ्च । प्राणायामादावरणक्षये सति मनसः सूक्ष्मलक्ष्य-  
“धारणासु” “योग्यता” भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

उक्तयमादिभिः संस्कृतचित्तस्य प्रत्याहारो भवतीति मत्वा तं  
लक्षयति :—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवे-

न्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

शुद्धचित्तस्य शब्दादिभिः स्वविषयैरसंप्रयोगे सति वैराग्या-  
दिषयेभ्यो विमुक्त्य तत्त्वाभिमुखे सतीति यावत् “इन्द्रियाणां”  
चक्षुरादीनां यः “चित्तस्य” “स्वरूपानुकारः” स्वविषयासंप्रयोगेन  
तत्त्वाभिमुखरूपः स “प्रत्याहारः” । इन्द्रियाणि विषयेभ्यः  
प्रातिलोभ्येनाङ्गियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । इन्द्रियाणां विषय-  
शूराणां चित्तवत्तत्त्वाभिमुख्यं नास्तीति द्योतनार्थः “इव” शब्दः ।  
यथा मक्षिका मधुकरराजं चलन्तमनुचलन्ति स्थितमनुस्थिता  
भवन्ति तथा चित्तानुसारीणीन्द्रियाणि चित्तनिरोधेनैव निरुध्यन्ते  
न यद्वागन्तरेणेति तात्पर्यम् ॥ ५४ ॥

प्रत्याहारस्य योगहारभूतं फलमाह :—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

अनिषिद्धविषयसेवाविषये तन्मत्वं विना स्वेच्छया भोगः, रागद्वेषाभावे सुखदुःखानुत्पादकं शब्दादिदर्शनमिन्द्रियाणां “वश्यता” । सा न परमा विषयाशीविषययोगात् । या तु विषयैः स्वाभिमुखं नीयमानानामपीन्द्रियाबलानां तत्त्वपतिव्रतात्वेन विषयेष्वत्यन्तमप्रतिपत्तिः, रावणेन स्वाभिमुख्यं नीयमानाया अपि श्रीसीतायाः श्रीरामव्रतत्वेन राक्षसाधमाप्रतिपत्तिवत् सा परमेति जैगीषव्यः । प्रत्याहारात् “इन्द्रियाणां” “परमा” “वश्यता” भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति साधनपादः समाप्तः ॥ २ ॥

### विभूतिपादः ।

एवं द्वितीयपादे लेशतनूकरणद्वारा योगसाधनं क्रियायोगं निरूप्य, सप्रपञ्चं लेशकर्मविपाकान् उक्त्वा, तेषां ह्येतत्त्वार्थं दुःखत्वं दर्शयित्वा, ह्येतद्वेतुमोक्षतद्वेतुनोपन्यस्य, योगस्य वहिरङ्गयमादिपञ्चकं सावान्तरफलं निरूपितम् सम्पूति धारणाऽऽदित्रितयमन्तरङ्गं संयमसंज्ञं वदन् संयमसाध्या विभूतयः श्रद्धाहारकैवल्यफलकयोगप्रवृत्तिहेतवो वक्तव्या इति पादान्तरमारभमाणं धारणां लक्षयति :—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

नाभिचक्रद्वयनासाऽग्रादौ देशे संप्रज्ञातयोगसिद्धये चित्तस्य यो बन्धः स्थिरीकरणं सा “धारणा” इत्यर्थः । तदुक्तं विष्णुपुराणे :—

“प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।  
 वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥  
 मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिस्पृहम् ।  
 एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते ॥  
 तच्च मूर्त्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप ।  
 तच्छ्रूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते ॥  
 प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम् ।  
 सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम् ॥  
 समकर्णान्तविन्द्यस्तचारुकुण्डलभूषणम् ।  
 कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्गितवक्षसम् ॥  
 वलीत्रिभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण वै ।  
 प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमय वाऽपि चतुर्भुजम् ॥  
 समस्थितोरजङ्घश्च सुस्थिराङ्घ्रिकराम्बुजम् ।  
 चिन्तयेद्ब्रह्मभूतं तं पौतनिर्मलवाससम्” इति ॥

धारणासाध्यं ध्यानं लक्षयति :—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

यत्र धारणा विजातीयवृत्तिपरिहारे यत्नापेक्षा भवति “तत्र”  
 एव या प्रत्ययानां वृत्तीनामेकतानता यत्नमनपेक्षैकविषयता  
 तत् “ध्यानम्” इत्यर्थः ।

तद्रूपप्रत्ययैकाग्रसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा ।

तद्व्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥

इति तत्रैवोक्तं खाण्डिकजनकं प्रति केशिध्वजेन ॥ २ ॥

समाधिं लक्षयति :—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

अतिस्वच्छचित्तवृत्तिप्रवाहरूपं ध्यानमेवार्थमात्रस्वरूपेण

निर्भासमानं “समाधिः” । “मात्रचः” अर्थमाह । “स्वरूपशून्य-  
मिव” इति । ध्यानस्वरूपज्ञानशून्यम् । इवशब्देन ध्यानस्य सत्तां  
द्योतयति । यथा स्वच्छस्फटिकमणिः कुसुमरूपेणैव निर्भासते न  
स्वरूपेण तद्वदित्यर्थः । विजातीयवृत्तिविच्छिन्ना धारणा । अवि-  
च्छिन्नं ध्यानम् । ध्येयध्यानध्यातृस्फूर्तिमध्ये ध्येयमात्रस्फूर्ति-  
मान् समाधिः । स एव दीर्घकालव्यापी सन् संप्रज्ञाताख्यो योग  
इत्युच्यते । ध्येयस्फूर्तिशून्योऽसंप्रज्ञात इति भेदः ॥ ३ ॥

धारणाध्यानसमाधित्वयस्य व्यवहारलाघवफलां संयमसंज्ञा-  
माह :—

तयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकविषयं “तयं” “संयम” संज्ञं भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

संयमस्य फलमाह :—

तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥

तस्य संयमस्य जयात् स्थैर्यात् प्रज्ञायाः समाधिजाया  
आलोको नैर्मल्यं भवति । भ्रान्तिसंशयादिमलशून्या ध्येयतत्त्व-  
स्फूर्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

क्व पुनर्नियुक्तस्य संयमस्येदं फलमिति प्रश्नस्योत्तरं पठति :—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

स्थूलसूक्ष्मादिप्रज्ञाः सवितर्का-निर्वितर्का-सविचारा-निर्विचारा-  
ऽऽदयो भूमयः । तासु संयमस्य “विनियोगः” । संयमेन पूर्वभू-भिं  
जित्वा तदुत्तरां भूमिं जिगीषेत् । न हि स्थूलमसाक्षात्कृत्य सूक्ष्मं  
साक्षात्कर्तुं शक्यमिति भावः ॥ ६ ॥

ननु योगाङ्गानां मध्येऽङ्गपञ्चकं पूर्वपादे निरूपितं त्रयमत्र  
निरूपितं तत्र को हेतुरित्यत्राह :—

### त्रयमन्तरङ्गं पूर्वैभ्यः ॥ ७ ॥

पञ्च यमादीनि संप्रज्ञातसमाधिः प्रतिबन्धकस्य चित्तकाय-  
प्राणेन्द्रियमलस्य निवृत्तिद्वारा वहिरङ्गानि । धारणाऽऽदित्रयं  
त्वङ्गिनः समानविषयतया सञ्ज्ञात्स्वरूपोपकारकत्वात् “अन्त-  
रङ्गम्” । अतः “पूर्वैभ्यः” पञ्चभ्य इदमन्तरङ्गमिति कृत्वा तत्त-  
द्भूतिविनियोगोक्त्यर्थमत्र निरूपितमित्यर्थः ॥ ७ ॥

### तदपि वहिरङ्गं निर्वीजस्य ॥ ८ ॥

असंप्रज्ञातस्य धारणाऽऽदित्रयमपि “वहिरङ्गम्” । अङ्गिनो  
निर्विषयत्वेन त्रयस्य सविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात् । अतो  
व्युत्थानरूपस्य त्रयस्य संप्रज्ञातपरिपाकप्रज्ञाप्रसादरूपपरवैराग्य-  
द्वारा निरोधे सति संप्रज्ञातस्यापि निरोधाद्विर्वीजो भवति ।  
पारम्यर्थेणोपकारकत्वाद्द्वहिरङ्गमित्यर्थः ॥ ८ ॥

सम्प्रति संयमादिभूतीर्वक्तुकामः संयमस्य लक्षणान् परि-  
णामान् दर्शयति :—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ  
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानं संप्रज्ञातः । स निरुध्यते येन तत्परवैराग्यं निरोधः ।  
तत्र यदा व्युत्थानसंस्कारस्याभिभवो निरोधसंस्कारस्य प्रादुर्भावश्च  
भवतस्तदा निरोधसंस्कारस्यासंप्रज्ञातस्य क्षणेनावसरेण युक्तं  
चित्तं भवति । तस्य निरोधक्षणस्य चित्तस्य धर्मिणस्त्रिगुणत्वेन  
चलस्य सदा परिणामशीलस्याभिभूतप्रादुर्भूतयोः संस्कारयोर्धर्मि-  
त्वेन योऽन्वयः स निरोधाख्यः परिणाम इत्यर्थः । परवैराग्यरूप-  
वृत्त्या संप्रज्ञातवृत्तेस्तत्संस्कारस्य चाभिभवे सति परवैराग्यसंस्कार  
एवाभिव्यक्तः सन्निर्वीजः “निरोधपरिणामः” इति भावः ॥ ९ ॥



सर्वात्मना व्युत्थानसंस्काराभिभवे सति निरोधस्यैर्यमाह :—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

निरोधसंस्कारप्रचयाद्विरस्तसमस्तव्युत्थानसंस्कारमलस्य चित्तस्य निरोधसंस्कारपरम्परामात्रवाहिता भवति । ननु तर्हि चलमेव तदाऽपि चित्तं सत्यं तदाऽपि तादृशी परिणाममात्रा स्वैर्यमित्युच्यत इति भावः ॥ १० ॥

एवं निर्वीजावस्थामुक्त्वा संप्रज्ञातपरिणाममाह :—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-  
परिणामः ॥ ११ ॥

“चित्तस्य” सर्वार्थता नानाऽर्थाकारत्वं विक्षिप्तत्वरूपो धर्मः । एकाग्रता वक्ष्यमाणो धर्मः । तयोर्यथाक्रमं “क्षयोदयौ” तिरो-  
भावप्रादुर्भावौ, न सतो विनाशो नासत उत्पत्तिस्तौ “समाधि-  
परिणामः” इत्यर्थः । अभ्यासेन विक्षेपात्यये सत्येकाग्रता स्यैर्यं  
समाधिरिति भावः ॥ ११ ॥

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-  
परिणामः ॥ १२ ॥

शान्तोऽतीतः, उदितो वर्तमानः, तौ । एकविषयत्वेन तुल्यौ  
च तौ प्रत्ययौ च “तुल्यप्रत्ययौ” । “चित्तस्य” नैरन्तर्येण वृत्ति-  
इयमेकविषयमेकाग्रताऽऽख्यः परिणाम इत्यर्थः । इयमेकाग्रता  
द्वादशगुणा, धारणा भवति । द्वादशगुणा धारणा, ध्यानम् ।  
द्वादशगुणं ध्यानं, समाधिः । द्वादशगुणः समाधिः, संप्रज्ञाताख्यो  
योग इति भेदः ॥ १२ ॥

मनःपरिणामेषु निरोधसमाध्ये काग्रतासूक्तन्यायमन्यत्राति-  
दिशति :—

## एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणवस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

भूतेषु पृथिव्यादिषु धर्मिषु चक्षुरादीन्द्रियेषु च परिणाम-  
स्तिविधः, धर्मपरिणामो, लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चेति ।  
“एतेन” मनःपरिणामव्याख्यानेन “व्याख्याता” भवन्ति । तथा  
हि मृदः पिण्डरूपधर्माभिभवे सति घटरूपो धर्मः प्रादुर्भवति  
यथा । तथा चित्तस्य व्युत्थानात्यये निरोधोद्भवः सोऽयं धर्म-  
परिणामः । लक्षयति कार्यरूपं धर्मं व्यावर्त्तयतीति लक्षणं काल-  
त्रयम् अनागतोऽध्वा, वर्त्तमानोऽध्वा, अतीतोऽध्वेति कालत्रय-  
मेवाध्वत्रयमित्युच्यते । तत्र तद्धर्मस्य घटस्यानागतत्वं प्रथमोऽध्वा,  
वर्त्तमानत्वं द्वितीयोऽध्वा, अतीतत्वं तृतीयोऽध्वा, सोऽयं लक्षण-  
परिणामः । अनागतत्वं हि धर्मो वर्त्तमानातीतधर्माभ्यां व्यावर्त्त-  
यति । एवं वर्त्तमानत्वादिकमपि लक्षणं मन्तव्यम् । एवं लक्षण-  
परिणामस्य तदवच्छिन्नस्य धर्मस्य वाऽवस्थापरिणामो द्रष्टव्यः ।  
स यथा आगामिकल्पभावी अनागततमः, एतत्कल्पभाव्यना-  
गततरः, श्लोभावी अनागतः, सद्यो जातो वर्त्तमानतमः, इत्या-  
द्युक्तम् । तथा वर्त्तमानस्य नवत्वपुराणत्वादयोऽवस्थापरिणामाः ।  
एवं “प्रतिक्षणपरिणामिनः सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः” इति  
संक्षेपः ॥ १३ ॥

यस्यायं त्रिविधः परिणामः तं धर्मिणं दर्शयति :—

## शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्ताः कृतव्यापारा अतीताः । उदिता जलाहरणादि-  
यापाराविष्टा वर्त्तमानाः । अव्यपदेश्याः शक्तिरूपेण मृदादिषु धर्मिषु  
स्थिता अनागताः । ते हि सूक्ष्मतया धर्मिणो धर्मान्तराद्वा भेदेन

व्यपदेशेन व्यपदेशं न शक्यन्त अत एव सर्वकार्यं शक्तिरूपेणा-  
व्यपदेशं कारणमात्रसम्भावितमिति सर्वं कारणं सर्वकार्यात्मकं  
भवति । दृश्यते हि दावदग्धवेत्तबीजात् कदलीखण्डोद्भवः । न हि  
तत्रासत् उद्भवः सम्भवति अभिव्यञ्जकानां देशकालकर्मादीनां  
वैचित्र्यात् क्वचित् किञ्चित्देवोद्भवतीति लोके कार्यकारण-  
व्यवस्था । योगमिद्धानां देशादिप्रतिबन्धाभावात् सर्वस्मात् सर्व  
मुद्भवति तानितान् शान्तोदिताव्यपदेशान् घटीयन्त्ववदनिश्चय-  
वर्त्तमानान्योऽनुपतत्यन्वेति सोऽनुपाती “धर्मी” । यथा मृत-  
सुवर्णादिचूर्णपिण्डघटरुचकाद्यन्वयो धर्मीत्युच्यते ॥ १४ ॥

नन्वेकस्य धर्मिणः परिणामबहुत्वे को हेतुरित्यत आह :-

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

मृदि चूर्णपिण्डयोः पिण्डघटयोर्वटकपालयोः पौर्वापर्यरूप-  
क्रमस्यान्यत्वं दृश्यमानमेकस्या एव मृदः परिणामानां चूर्णादीनां  
धर्माणामन्यत्वे “हेतुः” ज्ञापकः । एवमनागतवर्त्तमानातीताध्वनां  
क्रमाल्लक्षणपरिणामान्यत्वे धर्माणां ज्ञेयम् । तथा क्षणपरम्परय-  
घटव्रीह्यादीनां दुर्लक्ष्यसूक्ष्मपरिणामक्रमेण नवत्वपुराणत्वाद्य-  
वस्थापरिणामान्यत्वे बोध्यम् । दृश्यते हि कुसूलरचितव्रीहीणां  
कालेन पाणिस्यर्शमात्रेण चूर्णावस्था । न हीरां क्षणिकपरिणाम-  
क्रमं विना नवानां वा दृष्टा । नाप्यकस्माद्भवति । तस्माद्धर्मिणः  
परिणामिनित्यस्य धर्मा भिन्नाः, धर्माणां लक्षणानि, तेषामवस्था,  
इति स्थितम् । धर्म्यनन्यत्वान्न क्षणिकत्वंवाद इत्यनवद्यम् । तत्र  
केचित् परिणामाश्चित्तस्य प्रत्यक्षाः कामसुखादयः । केचित्तु  
आगमानुमानगम्याः सप्त । तदुक्तं “भाष्ये” :-

“निरोधकर्मसंस्काराः परिणामोऽयं जीवनम् ।

चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥” इति ।

परोक्षा इत्यर्थः । कर्म पुण्यापुण्यापूर्वम् । त्रिगुणत्वात् चित्तस्य प्रतिक्षणपरिणामोऽनुमेयः । जीवनं श्वासादिलिङ्गगम्यं प्राणधारणम् । चेष्टा क्रिया चित्तस्था गात्रचेष्टागम्या । कार्याणां सूक्ष्मावस्था शक्तिः ॥ १५ ॥

एवं संयमधर्मस्य विषया धर्मादयो निरूपिताः । सम्प्रत्यापादसमाप्तेः संयमस्य तत्तद्विषये वशीकारज्ञानाय विभूतय उच्यन्ते :—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

चित्तसत्त्वं हि स्वतः सर्वप्रकाशस्वभावं रजस्तमोमलप्रतिबन्धस्य संयमेन निवृत्तौ सत्यां प्रमाणमनपेक्ष्य सर्वं जानातीति स्थितिः । तत्रास्मिन् धर्मिण्येते धर्मा अनागतादयः, एतेऽध्वानः, एता अवस्था, इति धर्मलक्षणावस्थारूप-“परिणामत्रयसंयमात्” योगिनोऽतीतानागतवस्तुसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

वर्णातिरिक्तो वर्णैर्व्यङ्ग्यो नित्यो निर्भागः शब्दः स्फोटः । स द्विविधः । गौरित्येकं पदमिति श्रोत्रग्राह्यः पदस्फोटः, गामानग्रेत्येकं वाक्यमिति ग्राह्यो वाक्यस्फोटः । न च क्षणिकानेकवर्णेष्वेकत्वप्रत्यक्षबुद्धिः । तथा हि । गौरिति त्रयो वर्णा गणशौरिपयःपदेषु विद्यमानैर्गकारौकारविसर्जनीयैर्विजातीयस्फोटत्रयव्यञ्जकैः सदृशा भवन्ति तुल्यस्थानत्वात् । तदुक्तम् :—

“अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।

जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥” इति ।

एवं स्पर्शानां स्मृष्टप्रयत्नः, स्वराणां मूषणाच्च विवृतमित्यादिप्रयत्नसादृश्यं द्रष्टव्यम् । तथा च प्रयत्नविशेषानुस्यूदानवायोरष्टस्थानैः संयोगे सत्यष्टस्थानस्थेन वागिन्द्रियेणोत्पद्यमाना गकारादयो वर्णा ध्वन्यभेदेन श्रोतप्रत्यक्षानुभववेद्याः प्रत्येकं गोपदस्फोटं व्यञ्जयन्तो गणादिस्फोटैः सदृशमव्यक्तं व्यञ्जयन्ति खनिष्ठसादृश्यानां स्वव्यङ्गेयं समारोपात् । पुनर्गकारादयस्त्वयः क्रमवन्तः स्वानुभवजनितसंस्कारसहितश्रोत्रलब्धजन्तयेकस्यां बुद्धौ भासमानत्वेन मिलिताः स्वस्फोटान्तराद्व्यावृत्तं व्यक्त्यन्तरं गोपदस्फोटं निर्भागमपि स्वतादात्म्येनारोपितसादृश्यात्मकभागवन्तमक्रमं नित्यमपि सक्रममनित्यमिव व्यञ्जयन्ति । मलिनवक्रादर्शा निर्मलमृजु मुखं स्वसादृश्यमारोप्य मलिनं वक्रमिव यथा व्यञ्जयति तद्वत् । एवं वर्णैरभिव्यक्तः स्फोटोऽर्थबोधकः । न च वर्णैरर्थस्यैव प्रत्येकमव्यक्ता, मेलनेन व्यक्ततरा, अभिव्यक्तिरस्तु किं स्फोटेनेति वाच्यम् । व्यक्ताव्यक्तत्वस्य प्रत्यक्षज्ञानधर्मस्य परोक्षार्थज्ञानस्थत्वायोगाद् । एकं पदमेकं वाक्यमिति स्फोटज्ञानं श्रोत्रजप्रत्यक्षमिति तस्यैव व्यक्ताव्यक्ततेत्यलं विस्तरेण । अस्य शब्दस्य शब्दप्रत्ययाभ्यामभेदेन विकल्पिते सङ्कीर्णोऽर्थे सङ्केतग्रहो लोकस्थेति पूर्वं प्रतिपादितम् । तथा गौरिति शब्दो, गौरित्यर्थो, गौरिति प्रत्ययः, इत्याबालपण्डितं शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभेदाध्यासात् सङ्करः प्रसिद्धः । तेषां शास्त्रयुक्तिभ्यां यः प्रविभागः प्रसिद्धः, वर्णव्यङ्ग्यं पदं पदव्यङ्ग्यं वाक्यं शक्त्यादिवृत्त्या बोधकमिति शब्दतत्त्वम्, अर्थो द्रव्यगुणकर्मजात्यादिभिर्वाच्यो लक्ष्यथेत्यर्थतत्त्वम्, शब्दजन्योऽर्थविषयो बुद्धिस्थप्रत्यय इति ज्ञानतत्त्वमिति गोशब्दवत् सर्वत्र विभागो ज्ञेयः तस्मिन् विभागे संयमात् सर्वशब्दादिवशीकारसूचकं सर्वभूतानां पशुपक्षादीनां वृत्तज्ञानं भवति । इममर्थमेते वदन्तीति संयमो जानातीत्यर्थः ॥१७॥

## संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

अनुभवक्लेशजाः स्मृतिक्लेशहेतवः, कर्मजाः सुखदुःखहेतवः, इतीमे संस्काराः सन्ति चित्तस्य धर्माः पूर्वजन्मपरम्परासञ्चिता-  
स्तेषु श्रुतेष्वनुमितेषु च संयमेन० साक्षात्कृतेषु तद्देतुत्वेन स्वीय-  
परकीयपूर्वजन्मपरम्परायाः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः । अत्र भग-  
वान् जैगीषव्य उदाहरणम् । तस्य किल योगवर्यस्य प्रकृतिवशिनः  
संस्कारसाक्षात्कारात् दशसु महाकल्पेषु देवतिर्यङ्मूरादियोनिषु  
जन्मपरम्परां साक्षात्कृतवतो दिव्यविवेकख्यातिश्च प्रादुरभवत् । तं  
भगवान् आवध्यः पप्रच्छ । भगवन् ! त्वया दृष्टेषु दशकल्पेषु सुख-  
दुःखयोः किमधिकमनुभूतम् । जैगीषव्य आह । हन्त भो आयुषन् !  
देवनरादिषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं मया तत्सर्वं  
दुःखमेवेति । आवध्य आह । किं प्रकृतिवशित्वमपि दुःखमेव येन  
दिव्या भोगा अक्षयाः सङ्कल्पमात्रेणोपतिष्ठन्त इति । स उवाच ।  
सत्यं, लौकिकसुखापेक्षया प्रधानवशित्वमनुत्तमं, परं कैवल्या-  
पेक्षया दुःखमेव यतस्तृष्णातन्तुरनुच्छिन्नः सर्वदुःखाकरः, तद्वि-  
च्छेदात् कैवल्यसुखं प्रसन्नमनुत्तममिति भाष्यस्थाऽऽख्यायिका ।  
अनु यत्र संयमस्तस्य साक्षात्कार इति नियमात् कथं संस्कार-  
संयमात् पूर्वजन्मज्ञानमिति चेत् ? सत्यं, सानुबन्धसंस्कारसंयमा-  
दनुबन्धत्वेन पूर्वजन्मनो ज्ञानमुपपन्नमिति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

सिद्धान्तरमाह :—

## प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

परचित्तस्य संयमात् तस्मात्साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

किं संस्कारसाक्षात्कारात्तदनुबन्धज्ञानवत्परचित्तसाक्षात्कारा-

तदालम्बनं ज्ञानं भवति । “न” इत्याह, परचित्तमात्रं साक्षात्क्रियते । “च” स्तुर्थः । “सालम्बनं” सविषयं तु न साक्षात्क्रियते तस्य सालम्बनस्याज्ञातत्वात् । लिङ्गादिना ज्ञाते हि संयमः प्रवृत्तिर्नाज्ञाते । तथा च यथा संस्काराणां संस्कारत्वलिङ्गेन,

“जन्मान्तरे यदभ्यस्तं तदद्याप्युपपद्यते ।

हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥”

इत्याद्यागमेन, च जन्मान्तरानुबन्धित्वं ज्ञातुं शक्यं तथा परचित्तममुकविषयमिति ज्ञातुमशक्यं लिङ्गाद्यभावात् । चित्तमात्रं तु परस्य हर्षादिलिङ्गेन सुज्ञानम् । यदि परचित्तं ज्ञात्वा संयमे साक्षात्तृतास्येदानीं किमालम्बनमिति स्वचित्तं प्रणिधत्ते तदतत्कालीनमालम्बनं जानाति । रागादिवृत्तयस्तु चित्ताभेदात् साक्षात्क्रियन्त इति विशेषः ॥ २० ॥

सिद्धयन्तरमाह :—

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तन्मे चक्षुः-  
प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

कायस्य यद्रूपं चाक्षुषत्वप्रयोजकमस्ति तस्मिन् संयमात्तस्य रूपस्य परचक्षुर्ग्राह्यत्वानुकूलायाः शक्तेः स्तन्मे प्रतिबन्धे सति परचाक्षुषज्ञानाविषयत्वे जातेऽन्तर्धानं योगिदेहस्याचाक्षुषत्वं यथाकामं सिध्यतीत्यर्थः । एतेन स्वीयशब्दस्पर्शरसगन्धानां संयमाच्छ्रोत्राद्यग्राह्यत्वसिद्धिरुक्ता भवति ॥ २१ ॥

विभूतयन्तरमाह :—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादप-  
रान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

पूर्वजन्मकृतमिदानीं स्थितं “कर्म” द्विविधम् । “सोपक्रमं,”  
 नेरूपक्रमं,” “च” फलदानव्यापारयुक्तं शीघ्रविपाकञ्च सोप-  
 क्रमं । सातपदेशे प्रसारितेनार्द्रवस्त्रेण शीघ्रं शुथता तुल्यं,  
 लान्तरे फलप्रदमिदानीं निर्व्यापारं चिरविपाकं निरूपक्रमं,  
 रातपदेशे पिण्डीकृतार्द्रवस्त्रतुल्यम् । तत्र संयमेऽस्य साक्षा-  
 रात्तद्विपाकस्यायुषोऽवसानं “अपरान्त”शब्दितं ज्ञायते । परस्य  
 जापतेरन्तो महाप्रलयः । नरादीनां मरणमपरान्तः । तस्य  
 ज्ञानममुष्मिन् देशेऽमुककाले मम देहवियोग इति साक्षात्कारः ।  
 तत्र सोपक्रमकर्मसाक्षात्कारे तद्विपाकस्य भूटिति भोगार्थं बहु-  
 षीराणि गृहीत्वा योगो स्वेच्छया म्रियते । एकेन तत्र  
 योगे मरणविलम्बः । प्रसङ्गादाह । “अरिष्टेभ्यो वा” इति ।  
 त्राध्यात्मिकारिष्टानि करपिहितकर्णपुटस्य प्राणघोषाश्रवणा-  
 नि, आधिभौतिकानि यमभटदर्शनादीनि, आधिदैविकान्यक-  
 मात् स्वर्गदर्शनादीनि, एतान्यरिवत् त्रासयन्ति अरिष्टानि  
 त्रिविधानि मरणलिङ्गानि तेभ्यो वा मरणज्ञानं भवत्य-  
 गिनोऽपोतरर्थः ॥ २२ ॥

मैत्रादिषु बलानि ॥ २३ ॥

पूर्वं मैत्रीकरुणामुदितासु संयमो विहितस्तेन तासां “बलानि”  
 र्याणि भवन्ति । यैर्योगी प्राणिमात्रस्य सुखकरः सुहृद्भवति,  
 खादुद्धर्ता भवति, अपक्षपाती भवति । उपेक्षा त्वीदासीन्यमात्रं  
 तस्य बलं किञ्चिदस्ति संयमभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हस्तिहनुमद्गरुडादि “बलेषु” तद्भावने संयमात्तानि बलानि  
 गिनः प्रादुर्भवन्ति । चित्तस्य स्वतः सर्वसामर्थ्यादित्यर्थः ॥ २४ ॥



प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-  
ज्ञानम् ॥ २५ ॥

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः प्रागुक्ता । तस्याः ज्योतिःसाक्षात्कार-  
रूपप्रवृत्तेर्य आलोक आस्पदं सर्वतो विप्रसृतं निर्मलबुद्धिसत्त्वं,  
तस्य सूक्ष्मे परमाणादौ, भूतव्यवहिते निध्यादौ, विप्रकृष्टे  
मेर्वन्तरवर्त्तिरसायनादौ, “न्यासात्” प्रक्षेपात्तेषां ज्ञानं साक्षा-  
त्कारो भवति । सौरालोकसंयोगाद् घटादिज्ञानवदित्यर्थः ॥ २५ ॥

एदं संयमेन साक्षात्कृतबुद्ध्यालोकद्वारा ज्ञानमुक्त्वा भौतिके  
तद्द्वारा तदाह :—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

दिवि देदीप्यमानमार्तण्डमण्डले सुषुम्नाऽऽदिहारके सहस्र-  
रश्मिमालिनि “संयमाद्” दृश्याभिन्नं चित्तं चतुर्दशभुवनानि  
साक्षात्करोतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

“चन्द्रे” संयमान्नक्षत्राणां सन्निवेशविशेषं साक्षात्करोति ।  
सूर्यस्य नक्षत्राभिभावकत्वात् तत्संयमात् तज्ज्ञानं न भवतीति  
भावः ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

“ध्रुवे” संयमात् तासां ताराणां गतिं जानाति । इयं तारा  
ऽनेन ग्रहेण सहानेन पथा एतावन्तं कालं गच्छतीति ॥ २८ ॥

एवं वाद्यसिद्धीरुक्ताऽऽध्यात्मिकसिद्धीराह :—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

कायस्य मध्यभागे यन्नाभिचक्रमाधारलिङ्गचक्राभ्यां चतुःषः

पद्माभ्यामुपरिस्थितं दशपत्रम् । तस्मिन् संयमाद्देहस्य सन्नि-  
वेशं जानाति । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । त्वग्धिरमांस-  
स्नायुस्थिमज्जाशुक्राणि सप्त धातवः । तेषां पूर्वं पूर्वं वाह्य-  
मित्येष कायविन्यासः ॥ २८ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

जिह्वातन्तोरधस्तात् कण्ठस्य कूपाकारः प्रदेशोऽस्ति ।  
यत्र प्राणादेः संघर्षात् क्षुत्पिपासे भवतः । तत्र संयमात्  
तन्निवृत्तिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूपादध उरसि कूर्माकारा नाड्यस्ति । तत्र संयमात्  
तत्प्रविष्टस्य चित्तस्य “स्थैर्यं” सिद्धतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

मूर्ध्ज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शिरःकपाले यच्छिद्रं ब्रह्मरन्ध्राख्यं सुषुम्नायोगात् हृदयस्थ-  
चित्तमणिप्रभायोगाच्च भास्वरं मूर्ध्ज्योतिः । तत्र संयमात्  
सिद्धानदृश्यानपि पश्यतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

विवेकख्यातिर्हि प्रसंख्यानं संसारतारकं तदर्थं संयमे  
क्रियमाणे प्रसंख्यानोपसूचकं प्रतिभया जडमात्रेण जातं प्रातिभं  
ज्ञानं भवति । तेन “वा” योगी “सर्वं” जानाति । यथा सूर्योदये  
सूचकारुणप्रभया लोकः पश्यति तद्वत् । राजवात्तिके तु  
सर्वनिमित्तानपेक्षमनोमात्रजन्यं यथाऽर्थं भटित्युत्पद्यमानं ज्ञानं  
प्रातिभा । तस्याः संयमात् प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्वभावि  
तारकमुदेति । तेन सर्वं योगी जानातीति व्याख्यातम् ॥ ३३ ॥

## दृढये चित्तसंवित् ॥३४॥

अधोमुखे हृत्पद्मे चित्तस्य स्थाने संयमात् सवासनस्य  
चित्तस्य संविद्भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः  
पारार्थ्यात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

बुद्ध्यात्मनोर्भोग्यभोक्तृत्वेनात्यन्तभिन्नयोः “प्रत्ययाविशेषो”  
बुद्धिपरिणामः सुखदुःखमोहप्रत्ययः पुरुषस्य प्रतिविम्बग्राहिभि-  
रविशेषः सारूप्यं प्रतिविम्बद्वारा सुखाद्यारोपः स “भोगः”  
बुद्धिस्थो दृश्यत्वात् परार्थः पुरुषस्य भोक्तुः शेषभूतस्तस्मात्  
परार्थाद् भोगाच्चित्प्रतिविम्बोपसर्जनक-प्रत्ययरूपाज्जडादन्यच्चित्-  
स्वभावः प्रतिविम्बः स्वार्थो नान्यशेषः । तत्र संयमात् पुरुषस्य  
साक्षात्कारो भवति । सोऽपि स्वप्रकाशेन पुरुषेण दृश्यो  
बुद्धिस्थो न पुरुषं विषयीकर्तुमीष्टे । किन्तु अनात्माकारत्व-  
शून्यत्वेनात्ममात्रप्रतिविम्बग्राहित्वात् पुरुषज्ञानमित्युच्यते । तथा  
च श्रुतिः :—“विज्ञातारमरे केन विजानीयात्” इति ॥ ३५ ॥

सम्प्रति अस्य संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारात् प्राग्भवाः सिद्धी-  
र्दर्शयति :—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता  
जायन्ते ॥ ३६ ॥

“ततः” स्वार्थसंयमात् प्रातिभं पूर्वोक्तं सर्वगोचरं ज्ञानं  
मनोमात्रेण योगजशुक्लधर्मानुगृहीतेन जायते । दिव्यानां  
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि  
क्रमेण “श्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता” संज्ञानि “जायन्ते”

दिव्यशब्दग्राहकं श्रोत्रं यदा योगिनो भवति, तदा तस्य श्रोत्रस्य  
आवणमिति तान्त्रिकी संज्ञा भवति तथा घ्राणस्य वार्त्ता,  
संज्ञेत्याद्यूहनीयम् ॥ ३६ ॥

ननु तर्हि अयं योगी कृतकृत्य इत्यत आह :—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

“ते” प्रातिभाऽऽदयः “समाधी” निःश्रेयसफले रतस्य  
“उपसर्गा” विघ्ना भवन्ति । अतो मुक्त्यर्थी तानुपेक्षते । न  
ह्यात्मसम्बोधनं विना सिद्धिकोत्याऽपि कृतकृत्यता भवति ।  
तदुक्तं परमगुरुणा श्रीकृष्णेन :—

“एतद् बुद्ध्या बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत !” इति ।

“व्युत्थाने” रतस्य तु ताः “सिद्धयो”-भवन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तदेवं संयमस्य ज्ञानरूपां विभूतिमात्मदर्शनां तामुक्ता  
क्रियारूपामाह :—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य  
परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

सर्वत्र व्याप्तिशीलस्य चित्तस्य स्वशरीरमात्रे सङ्कोचेन  
स्थितिर्वन्धः तस्य कारणं धर्माधर्मौ तयोः संयमेन शैथिल्यं  
भवति । प्रचरत्यनेन चित्तमिति प्रचारो नाडीसङ्घः, तस्यापि  
संयमेन संवेदनमधुनाऽनया नाड्या सञ्चरतीति ज्ञानं भवति,  
तथा प्राणैन्द्रियमार्गनाडीज्ञानं भवति । तथा च बन्धकरज्जु-  
नाशे मार्गज्ञस्य स्वपरवेष्टप्रवेशवत् “चित्तस्य” परकाये मृते  
जीवति वा प्रवेशो भवति चित्तमन्विन्द्रियाणि विशन्ति  
मधुकरराजमिव मक्षिका इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्-  
क्रान्तिश्च ॥ ३८ ॥

द्वयो खल्विन्द्रियाणां प्रवृत्तिः । वाङ्माऽऽद्याऽऽलोचनरूपा,  
आन्तरी जीवनयोनिप्रयत्नरूपा सर्वकरणसाधारणी, अस्याः  
कार्याः पञ्च प्राणादयः । तल नासिकाऽग्रादाहृदयं स्थितः प्राणः,  
आहृदयादानाभि स्थितः समानो भुक्तं समं नयतीति, आनामेरा-  
पादतलं स्थितोऽपानो मलमपनयतीति, आनासाग्रादाशिरो-  
वृत्तिरुदान उत्क्रान्तिहेतुः, सर्वदेहव्यापी व्यानः, तेषु प्राणः  
श्रेष्ठः । तत्रोदानस्य संयमेन जयादब्धिपङ्ककण्टकादिष्वसक्तो  
योगी लघुत्वादुपरि गच्छति, स्वेच्छया मरणञ्च लभत  
इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

नाभिनिकटस्थान्निव्यापिनः समानस्य वशीकारादग्नेः  
“ज्वलनं” भवति, येन ज्वलन्निव दृश्यत इत्यर्थः । एवं प्राणादि-  
जयात् स्वेच्छया तत् क्रियासिद्धिर्बोद्ध्या ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्विष्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

आहङ्कारिकस्यापि श्रोत्रस्याकाशेनाधाराधेयभावोऽस्ति ।  
उपलक्षणमेतत् । त्वग्वायूः, चक्षुस्तेजसोरब्रसनयोः, घ्राणभूस्योः,  
सम्बन्धेषु संयमात् दिव्यानीन्द्रियाणि आवर्णवेदनाऽऽद्युक्तसंज्ञानि  
सम्भवन्ति, यैर्दिव्यशब्दादीन् युगपज्जानातीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात्तुलसमापत्ते-  
श्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

तयोः संयोगं जित्वा लघुनि तूलादौ वा तद्भावेन समाधिना

लघुकायो भूत्वाऽऽदौ जले विहरति । तत ऊर्णनाभितन्तुषु विहरति । पश्चात् सूर्यरश्मिषु । ततो यथेष्टमाकाशे गच्छतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाश-  
शावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

देहेऽहंभावे सत्येव, मे मनो वहिरस्त्विति कल्पनया मनसो देहात् “वहिः” वृत्तिलाभो भवति, सा कल्पिता विदेहाऽऽख्या धारणा तया देहेऽहंभावत्यागे सति स्वत एव वहिर्वृत्तिलाभो भवति सेयं “अकल्पिता” महाविदेहाऽऽख्या धारणा । “ततः” प्रकाशस्वभावस्य चित्तस्य क्लेशकर्माद्यावरणक्षयो भवति । ततः सर्वज्ञत्वलाभ इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपमूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

पञ्चभूतानां स्थूलं दृश्यमानमवयवसंस्थानं पृथिवीत्वादि-  
जातिमत् क्रमेणैकैकन्यूनैः शब्दादिभिः पञ्चगुणैः स्थूलैर्युक्तमित्येकं रूपम् । अथ द्वितीयं तेषां स्वरूपं क्रमेण काठिन्यस्नेहीणा-  
प्रेरणसर्वगतत्वलक्षणं, प्रेरणा वायोस्तृणादिवाहकत्वम् । अथ तृतीयं तेषां रूपं सूक्ष्मं कारणं परमाणवः, तेषां सूक्ष्माणि पञ्च-  
तन्मात्राणि । अथ चतुर्थं तेषां रूपं गुणत्रयं तद्धि स्वकारण-  
त्वेनान्वेतीत्यन्वयः सामान्यम् । अथ पञ्चमं तेषां भूतानां रूप-  
मर्थवत्त्वं भोगापवर्गसामर्थ्यं गुणनिष्ठं स्वेषु गुणान्वयादागतम् ।  
एवं भूतानां पञ्चरूपेषु कार्यस्वरूपहेतुषु स्थूलादिक्रमेण संयमात्  
भूतानि योगिसङ्कल्पानुसारीणि भवन्ति, वक्षानुसारिण्य इव  
गाव इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभि-  
घातश्च ॥ ४५ ॥

“ततो” भूतजयाद्योगिनोऽणिमाद्यष्टसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति ।  
 परमाणुतुल्यत्वमणिमा, विभुत्वं महिमा, तूलपिण्डवज्रघुत्वं  
 लघिमा, मेरुवद् गुरुत्वं गरिमा, अङ्गुल्या चन्द्रसंस्पर्शनं प्राप्तिः,  
 सत्यसङ्कल्पत्वं प्राकाम्यम्, भूतनियन्तृत्वं वशित्वं, भूतस्रष्टृत्व-  
 मौशित्वमित्यष्टैश्वर्याणि । अत्र प्राप्त्यन्तानि स्थूलसंयमात्  
 सिद्ध्यन्ति । स्वरूपसंयमात् प्राकाम्यम् । अवशिष्टं हेतुसंयमा-  
 दिति विभागः । “कायसम्पत्” वक्ष्यते, तस्य कायस्य भूतधर्मैः  
 काठिन्यादिभिरनभिघातश्च भूतजयात् सिद्ध्यति । येन शिला-  
 ऽन्तः प्रविशति, शीतोष्णादयो न बाधन्त इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

चक्षुःप्रियं रूपं, लावण्यं सर्वाङ्गसौन्दर्यं, बलं वीर्यं, वज्रस्येव  
 संहननमवयवव्यूहं यस्य तद्भावो वज्रसंहननत्वं, हनुमति  
 प्रसिद्धम् ॥ ४६ ॥

भूतजयानन्तरमिन्द्रियजयोपायमाह :—

ग्रहणस्वरूपास्मिताऽन्वयार्थवत्तुसंयमादिन्द्रिय-  
 जयः ॥ ४७ ॥

शब्दः षड्जादिः, स्पर्शः शीतादिः, रूपं पीतादिः, रसो  
 मधुरादिः, गन्धः सुरभ्यादिरिति, सामान्यविशेषात्मकशब्दादि-  
 गोचराः पञ्च वृत्तयः कार्याः श्रोत्रादीन्द्रियाणां ग्रहणानि प्रथमं  
 रूपं, प्रकाशकत्वं स्वरूपं तेषां द्वितीयं, अस्मितालक्षणसात्विका-  
 हङ्कारः कारणं तेषां तृतीयम् । अन्वयार्थवत्त्वे चतुर्थपञ्चमे  
 व्याख्याते । तेषु पञ्चस्त्रिन्द्रियरूपेषु संयमात् “इन्द्रियजयो”  
 भवति ॥ ४७ ॥

ततः किं तत्राह :—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

मनोवत् कायस्यानुत्तमो गलिताभो “मनोजवित्वं,” विदेहा-  
नपेक्षाणामिन्द्रियाणां दूरवाह्यार्थज्ञाने विकरणत्वं “विकरण-  
भावः,” प्रधानस्यान्वयस्य चतुर्थरूपस्य जयः सर्वजगद्वशित्वमिति  
सिद्धय इन्द्रियजयाद्भवन्तीत्यर्थः । एता अणिमाद्याः प्रधान-  
जयान्ताः सिद्धयोऽस्मिन् शास्त्रे “मधुप्रतीका” उच्यन्ते, मधुन  
एकदेशवदास्वादयन्त इति मधुप्रतीका मधुतुल्या इत्यर्थः । यद्वा  
स्थूलादिप्रधानान्तर्वस्तुविषया योगजन्यर्त्तभरप्रज्ञा मधु तत्-  
प्रतीकं कारणं साक्षात्कृतं भूतेन्द्रियजयद्वारा यासां ता मधु-  
प्रतीकाः ॥ ४८ ॥

एवं संयमात् ज्ञानक्रियासिद्धयः साक्षाच्छ्रद्धाद्वारा आविवेक-  
ख्यात्यर्थो उपन्यस्ताः । सम्प्रति विवेकख्यातेरवान्तरसिद्धि-  
माह :—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधि-  
ष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्तस्वार्थसंयमेन निर्दूतरजस्तमोमलस्यान्तःकरणस्य जये  
वशीकारसंज्ञायामपरस्यां विरक्तौ स्थितस्य बुद्धिसत्त्वात्मनोर्भेद-  
ख्यातिर्जायते तस्मात्तस्य तदावृत्तिपरस्य योगिनः सर्वेषां भावानां  
प्रधानतत्परिणामानामधिष्ठातृत्वं नियन्तृत्वं, सर्वेषां भूतभवद्-  
भाविनां ज्ञातृत्वञ्च सिद्धयति । एषा “विशोका” नाम सिद्धिः ॥४९॥

अधुना विवेकख्यातेर्मख्यां सिद्धिमाह :—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यमाप्नुयामि





वैराग्यं परं भवति । ततो दोषाणां क्लेशानां बीजं भ्रान्तिः  
संस्कारस्तस्य क्षये सर्वात्मना तिरोभावे सति चित्तस्य परवैराग्य-  
संस्कारशेषतायां पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वं “कैवल्यं” सिद्धयति ।  
इयं संस्कारशेषाऽऽख्या सिद्धिः ॥ ५० ॥

अत्र विघ्नोत्पत्तौ निरासोपायमाह :—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-  
प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

चत्वारः खल्वस्मी योगिनः । प्रथमकल्पिको, मधुभूमिकः,  
प्रज्ञान्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्च । तत्राद्यः संयमे प्रवृत्तमात्रो  
न किञ्चित्परचित्तादिकं जानाति । द्वितीयः संप्रज्ञातयोगेन  
मधुमतीं चित्तभूमिमृतभराप्रज्ञाऽवस्थां लब्ध्वा भूतेन्द्रियाणि  
साक्षात्कृतानि विजिगीषते तज्जयद्वारा पूर्वोक्ताः क्रमेण मधु-  
प्रतीका विशोका संस्कारशेषा चेति तिस्रो भूमीर्लब्धुकामः ।  
तृतीयस्तु जितभूतेन्द्रियत्वान्महेन्द्रादिभिरक्षोभ्यो लब्धभूमि-  
द्वयो विशोकाऽऽदिभूमिद्वयसिषाधयिषया स्वार्थसंयमयत्नवान् ।  
चतुर्थस्तु भगवान् महाऽनुभावो लब्धविवेकान्तभूमित्रयो विरक्तो  
विघ्नशङ्काशून्यो जीवन्मुक्तश्चतुर्थभूमौ वर्तते । यस्य सप्तधा  
प्रान्तभूमिः प्रज्ञा व्याख्याता । तत्राद्यस्य योगिनो देवनिम-  
न्त्रणयोग्यता नास्ति । अतः परिशेषान् मधुभूमिको योगी  
द्वितीयो यस्तस्य स्थानिभिः तत्तत् स्थानस्वामिभिर्महेन्द्रादिभि-  
रुपनिमन्त्रणं प्रार्थनं क्रियते, भोः इहास्थतां स्वर्गादिस्थाने, रम्यतां  
कमनीयेयं कन्या, दिव्योऽयं भोगो, रसायनमिदं जरामृत्यु-  
निवारकमिदं कामगं यानमित्येवं प्रार्थने सङ्गः कामः, अहो  
ममायं योगप्रभाव इति स्मयश्च न कर्त्तव्यः । किन्तु इत्थं तत्र  
दोषं भावयेत् घोरेषु संसाराङ्गारेषु पापस्थमानेन मया जन्म-

मृतिप्रबन्धचक्रारूढेन कथञ्चिदासादितः क्लेशकर्मान्धकार-  
विध्वंसियोगप्रदीपः, तस्य चैते दृष्टायाोनयो विषयवायवः प्रति-  
पक्षाः, स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया मृगदृष्ट्या वञ्चितः,  
तस्यैव पुनः पुनः प्रदीप्तस्य संसारान्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति  
स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणप्रार्थनोयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं  
निश्चितमतिः, समाधिं भावयेत् । मङ्गे पातित्यं, स्मये कृतकृत्य-  
मन्यस्य योगासिद्धिः, ततो योगभ्रष्टस्य पुनः संसारस्यानिष्टस्य  
प्रसङ्गात् सङ्गस्मययोरकरणं कैवल्यविघ्ननिरासोपाय इत्यर्थः ॥५१॥

पूर्वं बुद्धिप्रतिविम्बितपुरुषस्य स्वार्थसंयमात्तारकं विवेक-  
ज्ञानमुक्तं, तत्रोपायान्तरमाह :—

**क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥**

अभेदः कालभागः सत्यः क्षणः । अन्ये मुहूर्त्तादयः काल-  
भागाः क्षणसमूहरूपा असत्याः । न हि क्षणानां समूहो वस्तु  
सन् तत्रायमस्मात् पूर्वक्षणोऽयमुत्तरक्षण इति क्षणानां, तेषां  
क्रमस्य, पौर्वापर्यस्य संयमादतिसूक्ष्माणां भेदसाक्षात्कारो  
विवेको भवति । तेन च गुणपद्वियदादीनां पुरुषान्तानां ज्ञानं  
साक्षात्कारात्मकं जायत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

इदं क्षणसंयमजं ज्ञानं सर्वविषयमित्यग्रे वक्ष्यते । सम्प्रति  
सूक्ष्मं तस्य विषयविशेषमाह :—

**जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदे तुल्ययोस्ततः  
प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥**

अवच्छेदो निश्चयः । लोके हि भावानां त्रयो भेदनिश्चय-  
हेतवः । तत्र देशेन लक्षणेन च तुल्ययोर्मो गवययोर्जात्या भेदधीः ।  
देशजातिभ्यां तुल्ययोगवोः कृष्णश्वेतादिलक्षणेन भेदधीः । जाति-

लक्षणाभ्यां तुल्ययोरामलकयोः पूर्वोत्तरादिदेशभेदाद्भेदनिश्चयः  
 यदा पुनर्योगिनो ज्ञानपरीक्षार्थं केनचित् पूर्वदेशस्थमामलक  
 मुत्तरामलकदेशे विन्यस्योत्तरामलकमन्यव्यासक्ते योगिन्यपहृतं  
 तदा तयोरामलकत्वजातिरूपपरिणामादिलक्षणेन देशेन च  
 “तुल्ययोः” जात्यादिभिरन्यत्वनिश्चयसम्भवात् “ततः” क्षण-  
 संयमजविवेकज्ञानादेवान्यत्वंप्रतिपत्तिर्योगिनो भवति । यस्मिन्  
 क्षणे पूर्वामलकमुत्तरत्वं विन्यस्तं, तस्मात् प्राचीनक्षणे तस्मिन्  
 पूर्वदेशस्वरूपपूर्वपरिणाममाला जाता नोत्तरामलके, तस्य  
 तेषु क्षणेपूत्तरत्वपरिणाममालावत्त्वात्, तथा च क्षणक्रमज्ञो  
 योगी तयोः पूर्वोत्तरस्वपरिणाममालाक्षणेभ्योऽस्य क्षणस्थान-  
 न्तर्यं जानन्नधुनेदमुत्तरमितः प्राक् पूर्वं नोत्तरमिति भेदं निश्चि-  
 नोतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति  
 विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

तत्तत् संयमात् सर्वज्ञतोक्ता, सा प्रकारमात्रविषया यथा  
 रसवत्यां निष्पन्नैः सर्वैर्व्यञ्जनैर्भुङ्क्तमिति सर्वैर्व्यञ्जनप्रकारैर्भुङ्क्त-  
 मिति गम्यते । तदुपयथा पुनः पात्रस्थैः सर्वैर्व्यञ्जनैरुपनीतं सर्व-  
 मन्नं भुङ्क्तमित्युक्ते स्वरूपतः प्रकारतश्च निशेषं भुङ्क्तमिति गम्यते,  
 तद्वदिदं क्षणसंयमजं विवेकज्ञानं सर्ववस्तुस्वरूपविषयं, “सर्वथा-  
 विषयं” सर्वप्रकारविषयं, पुरुषतत्त्वावगाहित्वात् संसारसागरा-  
 त्सारयतीति “तारक”-संज्ञं “अक्रमं” युगपदेव करतलाम-  
 लकवत् सर्वसमूहावलम्बनमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

एवं विवेकख्यातिकाष्ठाऽवधिकान् तत्तद्भिभूतिफलान्  
 संयमानुपन्यस्य तादृशविवेकख्यातिकाष्ठाऽस्तु वा मा वा सत्त्व-  
 पुरुषान्यतासाक्षात्कारमात्रं मुक्तये कल्पत इत्यभिप्रेत्याह :—

सत्पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५५॥

निरस्तसमस्तरजोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य विवेकख्यात्या  
संस्कारशेषस्य सर्ववृत्तिशून्यत्वं शुद्धिः, पुरुषस्यापि नित्यशुद्धस्य  
तदा कल्पितभोगशून्यत्वं शुद्धिः, एवं तयोः “शुद्धिसाम्ये” सति  
“कैवल्यम्” । तत्तद्विभूतयस्तु अद्वोत्पादनार्थमुपन्यस्ताः । कैवल्यं  
तु बुद्धिविलक्षणपुरुषसाक्षात्कारमात्रादविद्यानिवृत्तावनागत-  
दुःखानुत्पादरूपं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति विभूतिपादः ॥ ३ ॥

कैवल्यपादः ।

सर्वसाधनसिद्धीनां या स्यात् सिद्धिरनुत्तमा ।

कैवल्यरूपा तन्मात्रं सौतारामं नमाम्यहम् ॥

प्रथमद्वितीयपादयोर्योगतत्साधने प्रतिपादिते । तृतीये  
संयमसंज्ञमन्तरङ्गद्वयं संयमस्य लक्षणाः परिणामभेदाः सिद्धय-  
शोक्ताः । तत्र काश्चिदतीतानागतज्ञानादिसिद्धयः अज्ञाद्वारा  
कैवल्ययोगस्याङ्गम् । काश्चिदिन्द्रियजयादयः साक्षादङ्गम् ।  
तारकसंज्ञिविवेकज्ञानसिद्धिर्योगस्य फलमिति निष्पितम् ।  
इदानीं कैवल्यस्वरूपं प्राधान्येन प्रतिपादनीयं, तदर्थं कैवल्य-  
भागीयं चित्तं परलोकः क्षणिकविज्ञानातिरिक्तात्मा चित्त-  
विकारसुखादिभोक्ता धर्ममेघश्च वक्तव्यः प्रासङ्गिकं चान्यद्वक्तव्य-  
मिति चतुर्थः पाद आरभ्यते । तत्र प्रथमसिद्धचित्तेषु कैवल्य-  
योग्यं चित्तं वक्तुकामः पूर्वोक्तसिद्धीनां हेतुभेदात् पञ्चविधत्वमाहः—

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्मना यक्षादीनामाकाशगमनादिसिद्धिः कपिलादीनां च

सांसिद्धिकीत्युच्यते । ओषधिविशेषसेवया माण्डव्यादीनाम् । मन्त्रजपेन केषाञ्चिदणिमादिसिद्धिः । तपसा विश्वामित्रादीनां सिद्धिः । एताश्चतस्रः “सिद्धयः” पूर्वजन्माभ्यस्तयोगजा एव जन्मादिनिमित्तेन व्यज्यन्ते । अत एव योगाभ्यासे विश्वासेन प्रवृत्तिरिह सिद्धादर्शनेऽपि जन्मान्तरे साफल्यत् । “समाधिजासु” पूर्वपादे व्याख्याताः ॥ १ ॥

ननु तपःप्रभावादिहैव नन्दीश्वरस्य श्रीगौरीवल्लभकटाक्ष-  
वीक्षणैः देवशरीरपरिणामः श्रूयते । तत्र न तावदयं नरदेहो  
देवादिदेहस्योपादानं तस्मिन् स्थिते परिणामान्तरायोगान्नष्टस्या-  
हेतुत्वात् । नापि तदवयवा एवोपादानं नरदेहमात्रहेतो-  
र्विलक्षणकार्यकारित्वायोगादित्याशङ्क्याह :—

**जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥**

प्रधानादयः पृथिव्यन्ताः प्रकृतयस्तासां सर्वत्र सत्त्वान्तरादि-  
देहावयवेषु तासामापूराद्धर्मादिनिमित्तानुरोधेनावयवानुप्रवेशात्  
“जात्यन्तरपरिणामः” युज्यते यथाऽग्निक्वाणस्य प्रकृत्यनुग्रहा-  
दनादौ बहुदृणादिमण्डलव्यापित्वं तद्वदित्यर्थः ॥ २ ॥

ननु प्रकृत्यापूरो धर्मादिनिमित्तमपेक्षते न वा ? न चेत्स-  
र्वत्रापूरापत्तिः । नाद्यः । धर्मादेः प्रवर्त्तकत्वे पुरुषार्थः प्रवर्त्तक  
इति सिद्धान्तविरोधादित्यत आह :—

**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः  
क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥**

निरीश्वरसांख्ये हि पुरुषार्थ एवानागतः प्रकृतीनां प्रवर्त्तकः ।  
अस्माकं तु सेश्वराणां तदुद्देशिनेश्वरः प्रवर्त्तक इत्युद्देश्यतया  
पुरुषार्थः प्रवर्त्तक इत्युच्यते । “निमित्तं” तु तासां न प्रवर्त्तकं

तत्कार्यत्वात् । किन्तु “ततो” निमित्ताद्वरणस्य प्रतिबन्धस्य बाधो भवति धर्मेणाधर्मनिरासे प्रकृतयः स्वयमेव देवादिपरिणामे प्रवर्तन्ते पापातिशयेन पुण्यप्रतिबन्धे सति तिर्यगादिपरिणामो यथा नहुषस्य सर्पपरिणामः । “चेत्रिकवत्” इति यथा चेत्रिकः कृषीवलो जलस्योन्नतदेशादिवरणभेदनमात्रं करोति ततो जलं स्वयमेव केदारान्तरे प्रवर्तते तद्वदित्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु यदा योगी युगपद्भोगार्थं बहून् कायान् निर्मिमीते तदा तेषु चित्तानि कुतो भवन्त्यत आह :—

**निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥**

योगप्रभावान्निर्मयन्त इति निर्माणानि चित्तानि योगिसङ्ख्याधीनप्रकृत्यापूरात्कायवदहङ्कारात्प्रकृतेर्जायन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तर्हि चित्तानां भिन्नभिन्नाभिप्रायत्वाद् योगिनो भोगासिद्धिरित्यत आह :—

**प्रकृतिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥**

निर्मितचित्तानां योगी स्वभोगानुकूलप्रवृत्तिविशेषनियामकं चित्तं निर्मिमीते योगबलात्तत् “चित्तं” तेषां नायकं भवति तेन भोगस्तदनुसन्धानं युज्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं जन्मादिभिः पञ्चविधानि ‘सिद्धचित्तान्युक्तानि तेष्वपवर्गभागीयं चित्तं निर्धारयति :—

**तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥**

“तत्र” तेषु जन्मादिजेषु यत्समाधिजं तत् “अनाशयं” क्लेशवासनाशून्यं मोक्षयोग्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

योगिनस्त्रित्तवत्कर्मापि विलक्षणमित्याह :—

**कर्माशुक्ताकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥**

वाङ्मनससाध्यं सुखैकफलकं शुक्तं कर्म स्वाध्यायतपःशीलानां भवति । दुःखैकफलकं कर्म कृष्णं दुरात्मनां भवति । सुख-दुःखमिश्रफलकं वह्निःसाधनसाध्यं शुक्तकृष्णं सोमयागादिरतानां भवति । तच्च ब्रौह्मादिवधेन पिपीलिकाऽऽदिपरिपीडया दक्षिणादानादिपरानुग्रहेण च योगादिदं “त्रिविधं” कर्म “इतरेषाम्” अयोगिनां भवति । “योगिनस्तु” संन्यासिनो वाङ्मसाधनसाध्यकर्मत्यागाच्च शुक्तकृष्णं कर्म, क्षीणक्लेशत्वान्न कृष्णं, योगजधर्मस्य फलमनभिध्यायेश्वरार्पितत्वान्न शुक्तं कर्मास्ति, अतश्चित्तशुद्धिविवेकख्यातिद्वारा मोक्षैकफलकं “अशुक्ताकृष्ण” “कर्म” इत्यर्थः ॥ ७ ॥

कर्मणः प्रसङ्गादासनाऽभिव्यक्तिफलमाह :—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासना-  
नाम् ॥ ८ ॥

“ततः” त्रिविधात्कर्मणो मरणकालानन्तरं जात्याशुर्भोगरूप-विपाकदानायाभिव्यक्तौ तस्य विपाकस्थानुगुणानां “वासना-नाम्” अभिव्यक्तिर्भवति न विरुद्धानामित्यर्थः । देवत्वप्राप्तौ चित्ते प्रसुप्ता एव नरकभोगवासना भवन्ति तासामभिव्यक्तौ दिव्य-भोगाद्योगादितिभावः ॥ ८ ॥

ननु स्वर्गदेशे देवजन्मनि जातास्तद्भोगेभ्यो वासनाः कथं नरव्याघ्रादिजन्मसहस्रव्यवधानानन्तरं पुनर्देवजन्मन्यभिव्य-ज्यन्ते । अनन्तरजन्मपूर्ववासना एव पूर्वदिनवासनावत् कुतो न व्यज्यन्त इत्यत आह :—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-  
संस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

यद्यपि सुप्तोत्थितस्थानन्तरपूर्वदिनानुभवजवासनाः प्रायेषा-  
भिव्यज्यन्तेऽव्यवधानात् तथाऽप्यनादिसंसारे येनकर्मणा यज्ज-  
न्मनि भोगैर्वासनाः सञ्चिताः तासां जन्मकोट्या देशेन कल्पशतेन  
च व्यवहितानामपि तज्जातीयेन कर्मणा तज्जन्मनि पुनः प्राप्ते  
सति तेनैव कर्मणा जन्मना वाऽभिव्यक्तानामानन्तर्यमव्यवहितत्वं  
स्मृतिद्वारा भोगादिहेतुत्वमिति यावत् । विजातीयकर्मारब्धा-  
नन्तरपूर्वजन्मवासनानां व्यञ्जकाभावात् प्रसृप्तिरेव व्यवहिताना-  
मपि कर्मजन्मनोरभिव्यञ्जकयोः सत्त्वादभिव्यक्तिर्युक्ता । न च  
विजातीयत्वेऽप्यव्यवधानादनन्तरपूर्ववासना एव ताभ्यां स्मृत्या-  
द्यर्थमभिव्यज्यन्तामिति वाच्यम् । स्मृतिसंस्कारयोरैकरूपत्वा-  
दयमर्थः क्रिया ज्ञानमन्यद्वा रागादिकं शक्त्यात्मना स्थितः  
संस्कारः । स च स्वसमानविषयकक्रियास्मृत्यादिहेतुः । क्रिया-  
संस्कारः क्रियात्मना, ज्ञानसंस्कारः स्मृत्यात्मना, अन्यसंस्कारो-  
ऽन्यात्मना, परिणमत इति यावत् । एवं स्मृतिसंस्कारयोरभेदे-  
नैकविषयत्वेन चैकरूपत्वात् ज्ञानान्तर्यशब्दितः कार्यकारणभावो  
न विजातीययोः । न हि व्यवधानं संस्कारस्य विरूपकार्य-  
कारित्वमापादयति घटानुभवजसंस्कारादनन्तरमननुभूतस्मृत्या-  
पत्तेरिति ॥ ८ ॥

ननु जन्मान्तरितवासना न सन्तीति वदन्तं चार्वाकं प्रत्याह :—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

न केवलं “तासां” वासनानामानन्तर्यं किन्तु अनादित्वम-  
पीति चार्थः । कुतः ? सदाऽहं भूयासमित्याशिषो मरण-  
वासस्य नित्यत्वात् सर्वजनेष्वप्यभिचारादित्यर्थः । इदमत्राकृतम् ।  
जातमात्रस्य कम्पाद्यनुमितो मरणवासो द्वेषदुःखस्मृतिमथ-  
भिचारात् कल्पयति, सा वासनां, साऽपि मरणजदुःखानुभवं,



सोऽस्मिञ्जन्मसम्भाव्यमानो जन्मान्तरं, कल्पयतीत्यनादित्व-  
सिद्धिरिति । तन्नु देहस्यानात्मत्वे कस्य जन्ममरणत्वासः आत्म-  
नोऽनाद्यन्तस्योभयत्वादिति चेत्, चित्तस्येति ब्रूमः तस्यैव ज्ञाना-  
दिवासनाऽनुविद्धस्य चित्तस्याहङ्कारिकत्वेन विभुनस्तत्तद्देह-  
सङ्कोचविकासशीलवृत्तिलाभो जन्मवृत्त्युपरमो मरणं तत्काले  
दुःखमित्यादिसर्वसंसारः ॥ १० ॥

नन्वनादिवासनानां कथमुच्छेदस्तत्राह :—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे  
तदभावः ॥ ११ ॥

नैताः पुरुषवदनादयः किन्तु कार्या एव प्रवाहा अनादयः  
अतः कारुणाच्छेदादुच्छेदसम्भवः । तथा हि पूर्वपूर्वभ्रमसंस्कार-  
लक्षणाविद्याऽहमित्यस्मिताहेतुः सा च नरोऽहं ममेदमनिष्ट-  
मिति भ्रमहेतुः सोऽपि रागद्वेषयोस्तौ च परनिग्रहादिद्वारा  
धर्माधर्मयोस्तौ च भोगे सोऽपि वासनासु ताः पुनर्भ्रमादिष्व-  
नादिसंसारचक्रमनिशमावर्तते । तत्र वासनानां क्लेशकर्माणि  
हेतवः, देहायुर्भोगाः फलं, चित्तमाश्रयः, शब्दादिकमालम्बनम्,  
एतैः “संगृहीतत्वादेषां” क्रियायोगाङ्गयोगजाविप्लवविवेकस्थाय्या  
उच्छेदे सति कारणानामभावादुच्छेदो भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु सतां संस्काराणां कथमभावः इत्यत आह :—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वमेदाङ्गमि-

णाम् ॥ १२ ॥

नासतामुत्पादो न सतां विनाशः “नासतो विद्यते भावो  
नाभावो विद्यते सत” इति परमेश्वरगीताश्रुतेः । “विदाहं सम-  
तीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन भविष्याणि च भूतानि” इति वर्त्त-

मानवदतीतानागतस्य प्रत्यक्षवेद्यत्वोक्तेः न ह्यसतः प्रत्यक्षवेद्यत्वं  
सम्भवति तस्मादतीतानागतं धर्मजातं धर्मिणि शक्तिरूपेणास्तेष्व  
यत्परिणामत्रयसंयमादिना योगिनः साक्षात्कुर्वन्ति कुला-  
लादयश्च बुद्धावालिख्य कुर्वन्ति यदाऽन्वयी धर्मो स्थिर एक  
उक्तः । ननु तर्हि वासनाऽऽदिबन्धसत्त्वात्तत्त्वज्ञानवैयर्थ्यमिति  
चेन्न । धर्माणामनागताद्यध्वनां भेदावर्त्तमानाध्वनि हि दुःखा-  
दिवासनाचितं साधिकारमसंख्येयपरिणामशीलं चित्तं भोग्य-  
ताऽऽपन्नं बन्ध उच्यते । तत्त्वज्ञाने सति निरधिकारमतीताध्वनि  
प्रवेशितं प्रकृत्यात्मना सदपि पुनरुत्थानबीजस्य कर्त्तव्यपुरुषा-  
र्यस्य कृतत्वान्न पुनरावर्त्तत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीत्युक्तं तत्र किं स्वरूपमित्यत  
आह :—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

व्यक्ता वर्त्तमानाध्वानः, सूक्ष्मा अतीतानागताध्वानः, ते मह-  
दादयो घटादिविशेषान्ताः गुणात्मानः सत्त्वरजस्तमःस्वरूपा  
इत्यर्थः । सर्वे भावाः सुखदुःखमोहात्मकगुणान्वितत्वेन तत्र-  
कृतित्वात् तत्स्वरूपा एव यथा घटादयो मृदन्विताः मृत्-  
स्वरूपाः प्रकृतिविकारयोर्भेदाभेदरूपतादात्म्यात्तत्र गुणाः परि-  
णामिनित्याः । अन्ये सर्वे भावाः प्रतिक्षणपरिणामाः क्षण-  
विध्वंसिनः । पुरुषस्तु कूटस्थः । तदुक्तं भाष्ये :—

“गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्” ॥ इति ।

ऐन्द्रजालिकवत् क्षणविध्वंसीत्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु यदि त्रयो गुणाः परिणामिनः तर्हि परिणामानां  
प्रत्येकमेकत्वं न स्यात् न हि मृत्तन्तुदुग्धानामेकः परिणामो  
दृष्ट इत्यत आह :—

## परिणामैकत्वादस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

बह्वनामप्येकः परिणामो दृष्टः यथा रुमास्थले क्षिप्तान् गजाश्वादीनामेको लवणपरिणामः, वर्तितैलाग्नीनामेको दीपपरिणामः, मृदादीनां त्वङ्गाङ्गित्वाभावान्न परिणामैकत्वम् । गुणानां तु परिणामस्याङ्गाङ्गिभावस्यैकत्वादस्तुनो महदादेस्तत्त्वमेकत्वं युज्यते । तत्र सत्त्वस्याङ्गित्वे गुणत्रयादेको महान्, तस्मादेकस्माद्रजःप्रधानादहङ्कारः, तमःप्रधानात् पञ्चतन्मात्राणि प्रत्येकमेकत्ववन्ति भवन्ति, अहङ्कारात् सात्त्विकाद्बुद्धीन्द्रियाणि, राजसात् कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकान्मनः । एवं शब्दतन्मात्रस्याङ्गित्वे सत्याकाशः पञ्चतन्मात्राणामेकः परिणामः । एवं स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणां क्रमेणाङ्गित्वे वायुग्न्यम्बुवनयः प्रत्येकं जायन्ते । एकस्माद्ब्रह्मवः परिणामास्तु बहुपरिणामवासनारूपशक्तिवैचित्र्यादित्यलं विस्तरेण ॥ १४ ॥

ननु क्षणिकविज्ञानात्मकचित्तातिरिक्तं वस्तु नास्तीत्यत्र यत्प्रमेयं तद्विज्ञानाभिन्नं, यथा विज्ञानं, प्रमेयाश्च घटादयोऽतः कस्यैकत्वानानात्वचिन्ता चित्तमेव ह्यनादि समनन्तरप्रत्ययात्मकवासनाविचित्रं द्रव्यगुणात्मना भातीति वदन्तं बौद्धं प्रत्याह :—

वस्तुसाम्येऽपि चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

तयोश्चित्तवस्तुनोः “विभक्तः” “पन्था” भिन्नो मार्गः विज्ञानार्थयोर्भेद इति यावत् । कुतो वस्तुनः स्त्रीपिण्डादेः साम्येऽपि चित्तानां भेदाद्यदेकस्यां नार्थां पत्युः सुखविज्ञानं, सपत्न्या दुःखविज्ञानं, तदलाभे कामुकस्य मोहो विषादस्तद्विज्ञानं, निष्कामस्योपेक्षाविज्ञानं, सर्वेषां या त्वया दृष्टा सा मयाऽपि दृष्टेत्यबाधितप्रत्यभिज्ञानादेकं वस्तुनेकं विज्ञानमिति तयोर्भेदः । यदेकं तदनेकेभ्यो भिन्नं, यथा नीलविज्ञानं पीतविज्ञानेभ्यः,

एकं च वस्तुतः स्वगोचरानेकविज्ञानेभ्यो भिन्नम् । न च प्रमेयस्य प्रमेयं युक्तम् । एकत्वे विषयविषयित्वविरोधाद्वाह्यार्थाभावे विज्ञानानां नीलपीताद्याकारत्वायोगाच्च । न च प्रमेयात्मकवासना तत्र हेतुरिति वाच्यम् । नष्टस्याहेतुत्वात् । न चैकरूपादर्थान्तव कथं चित्तवैचित्र्यमिति वाच्यम् । अर्थस्य त्रिगुणत्वाद्दर्माधर्मा-विद्याऽपेक्षयाऽर्थगतानां सत्त्वरजस्तमसामुद्रेकात् सुखदुःखमोह-विज्ञानहेतुत्वं तत्त्वज्ञानापेक्षया गुणानां साम्यादुपेक्षाहेतुत्वमिति युक्तत्वात्तस्मादस्ति विज्ञानातिरिक्तोऽर्थः ॥ १५ ॥

यत्तु कश्चिदाह । अस्तु विज्ञानादन्योऽर्थः स तु जडत्वादि-ज्ञानग्राह्यः प्रातिभासिको नाज्ञातोऽस्तीति । स वक्तव्यः कुतस्त-स्योत्पत्तिरिति, ग्राहकविज्ञानाच्चित्तादिति चेत् किमेकचैत्र-चित्तस्य घटवस्तुकार्यम्, उत चैत्रमैत्राद्यनेकचित्तानां, नाद्य-इत्याह :—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं  
स्यात् ॥ १६ ॥

यद्येकचित्तस्य कार्यं घटवस्तु तदा तस्मिंश्चित्ते पटादिषु व्यग्रे तद्वस्तु “प्रमाणकं” “किं” नष्टं “स्यात्” इत्यर्थः । न चेष्टापत्तिः । पुनस्तद्दर्शने सोऽयमित्यबाधितप्रत्यभिज्ञानादेकस्य व्यग्रत्वेऽप्यन्येन दृश्यमानत्वाच्च तस्मानैकचित्ततन्त्रं वस्तु नाप्यनेकचित्ततन्त्रं प्रातिभासिकस्य स्वप्नवदेकचित्ततन्त्रत्वनियमात् पूर्वमेकेन दृश्य-माज्ञे घटे बहुचित्तैः पञ्चात्मस्वम्भे विलक्षणघटान्तरोत्पत्तिप्रसङ्गाच्च सामग्रीवैलक्षण्यात् । किं चोदरदर्शनकाले पृष्ठभागो नास्तीत्युदर-मपि न स्यात् तस्मान्न प्रातिभासिकं वस्तु किन्तु चित्तातिरिक्तं स्वतन्त्रमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

ननु सिद्धान्ते विभुनश्चित्तस्य सर्वसम्बन्धात् सदा सर्वं ज्ञायेतेत्यत आह :—

तदुपरागापेक्षत्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

यद्यप्याहङ्कारिकत्वाच्चित्तेन्द्रियाणि विभूनि तथाऽपि तेषाम-  
हङ्कारे सुप्तानां सम्बन्धो विषयस्य स्फूर्त्तावहेतुः किन्तु कर्मणा-  
ऽभिव्यक्तानां देहस्थानां, तथा चेन्द्रियद्वारा येनार्थेन “चित्तस्य”  
उपरागः तस्मिन्नर्थे चित्तं स्वनिष्ठचित्प्रतिविम्बरूपां स्फूर्त्तिं धत्ते  
तमर्थं स्वाकारवृत्तिद्वारा बुद्धिस्थप्रतिविम्बरूपां स्फूर्त्तिं धत्ते  
नान्यमिति “वस्तु” “ज्ञाताज्ञातं” भवति । अत एव चित्तं  
तदर्थोपरागमपेक्षया कदाचिद्वस्तु जानाति कदाचिन्नेति ज्ञाता-  
ज्ञातविषयत्वात् परिणामीति भावः ॥ १७ ॥

“ तर्हि आत्मनः परिणामित्वमित्यत आह :—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या-  
परिणामित्वात् ॥ १८ ॥

पुरुषस्य हि ज्ञप्तमूढादिसर्ववृत्तिकं चित्तं विषयः स यदि  
चित्तेन स्वविषयशब्दादिवत् पुरुषेण स्वसत्ताकाले न ज्ञायेत  
तदा चित्तवत्परिणामी स्यात्पुरुषः वृत्तिपरिणामं तत्तदाकार-  
मपेक्ष्य तज्ज्ञातत्वापातात् तदा किं परिणामिद्वयेनेति चित्ता-  
दन्यः पुरुषो न स्यात् सदैव तु स्वसत्ताकाले ज्ञायमानाश्चित्तवृत्तयो  
भोग्याः शब्दाद्याकाराः तस्य भोग्यस्य प्रभोर्भोक्तुरपरिणामित्वं  
ज्ञापयन्ति साक्षिणोऽपरिणामित्वादेव हि स्वयं “सदा” “ज्ञाता”  
भवन्ति नान्यथेत्यर्थः ॥ १८ ॥

ननु चित्तमेव क्षणिकं स्वप्रकाशं स्वस्वार्थयोर्भासकमस्तु किं  
साक्षिणेत्यत आह :—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

रूपी घट इतिवत् सुख्यहं, क्रुद्धोऽहं, शान्तं मे मन, इति

“दृश्यत्वात्” चित्तं “स्वाभासं” स्वप्रकाशं “न” भवतीत्यर्थः । अयं भावः । किमिदं स्वप्रकाशत्वं न तावत् स्वाभिन्नप्रकाशक्रियाकर्मत्वं क्रियाकर्मणोरैक्यायोगान्न हि गतिर्गम्यते, किन्तु ग्रामः, नापि पुरुषवच्चित्तस्य स्वभिन्नप्रकाशाविषयत्वं क्रुद्धं मे मन इत्यनुभव-विषयत्वादतो दृश्यत्वात् स्वातिरिक्तद्रष्टृकं चित्तं सोऽहमितिप्रत्य-भिज्ञानान्न क्षणिकमिति ॥ १८ ॥

किञ्च :—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

क्षणिकवादिन एकस्मिन्नेव क्षणे चित्तचैतन्ययोरुभयोरवधारणं न सम्भवतीत्यर्थः । तथा हि । घटमहमद्राक्षमिति चित्तार्थयोः स्मरणं तयोरनुभवजन्यं तत्र चित्तक्षणे तयोः कथमनुभवः ? न च चित्तमेवोभयानुभव इति वाच्यम् । अर्थस्य चित्तजन्यत्वेऽर्थक्षणे चित्तासत्त्वादजन्यत्वे तत्समकालत्वेऽपि तदुत्पत्तितादात्म्ययोर-भावेन तदग्राह्यत्वायोगाद् असम्बद्धग्राहित्वे चित्तस्य सर्वज्ञता-ऽऽपत्तिः । उक्तं हि । “सौगतैः” “अतदुत्पत्तिरतदात्मा च तेन न गृह्यत” इति । न वा चित्तं स्वानुभवं दृश्यत्वादित्युक्तं, नापि चित्तं स्वस्वार्थयोरनुभवद्वयम् । अतिक्षणिकस्योत्पत्तिव्यतिरिक्त-व्यापाराभावात् । उक्तं हि । “भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यत” इति । न चैकस्मादग्रापारभेदं विना कार्यभेदो युक्तः । न वा स्वप्ने ज्ञानं ज्ञेयं च युगपत् कर्तुं शक्यं तस्मात्साक्षिणैव चित्त-चैतन्ययोरनुभव इति सिद्धम् ॥ २० ॥

ननु माऽस्तु चित्तं स्वदृश्यं चित्तान्तरेण दृश्यतां किं साक्षिणेत्यत आह :—

चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृति-सङ्करश्च ॥ २१ ॥

यदि नीलाकारं चित्तं चित्तान्तरेण दृश्यं तदा तदपि बुद्धिरूपं चित्तमन्यथा बुद्ध्या साऽप्यन्यथेत्यनवस्थापातात् । न च द्वित्रास्त्रिचतुराः पञ्चषा वा चित्तात्मानो ग्राह्या इति नानवस्थेति वाच्यम् । ग्राहकचित्तस्थानिश्चये ग्राह्यचित्तानिश्चयात् गेहे घटो दृष्टो न वेति संशये, न दृष्ट इति व्यतिरेकनिश्चये, चार्थ-निश्चयादर्शनेन ज्ञानचित्तानिश्चयस्यार्थानिश्चयाहेतुत्वात् तत्तद-नन्तचित्तानामनुभवे चानन्तचित्तस्मृतीनां सङ्करश्च प्राप्नोति स्मृत्यानन्तरादशक्यग्रहत्वात् ग्राहकाभावाच्चेयं नीलचित्तस्मृतिरियं पीतचित्तस्मृतिरिति विभागो न स्यादित्यर्थः । चित्तानां समत्वाद् दीपानामिव ग्राहकत्वासम्भवश्च । अतः सान्निवेद्यं चित्तमिति सिद्धम् ॥ २१ ॥

ननु कूटस्थस्य सान्निध्याच्चित्तेन क्रियापूर्वकसम्बन्धाभावात्त-त्तेन कथं संवेद्यमित्यत आह :—

चित्तेरप्रतिसङ्गमायास्तदाकारताऽऽपत्तौ

स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

यथा बुद्धेः क्रियया घटादिसंश्लेषः प्रति सङ्क्रमोऽस्ति परिणामित्वान्न तथा चित्तेर्बुद्धौ प्रतिसङ्क्रमोऽपरिणामित्वात् । किन्तु सूर्यस्य जले प्रतिबिम्बवच्चित्तेर्बुद्धौ प्रतिबिम्बे सति बुद्धेस्त्रिदा-कारताऽऽपत्तौ स्वस्य भोग्याया बुद्धेः संवेदनं भवति चिच्छाया-ग्राह्यत्वसम्बन्धेन चिदुपरक्तं चित्तं चिद्देद्यमित्यर्थः । “अप्रति-सङ्गमायाः”चित्तेः सान्निध्यात्तस्याश्चित्तेराकारम्भ्या यच्च तज्ज्ञा-वापत्तौ सत्यां स्वभोग्यबुद्धिसंवेदनमिति योजना ॥ २२ ॥

ननु यदि चित्तातिरिक्त आत्माऽस्ति तर्हि कथं केषाञ्चित् चित्तमेवात्मेति भ्रम इत्याशङ्क्य चित्तस्य सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यं तेषां भ्रमवीजमाह :—

## द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा पुरुषश्चेतनः दृश्यं शब्दाद्यचेतनमिति तत्सर्वं चेतना-  
चेतनमर्थो विषयो यस्य तत्सर्वार्थं तत्र तत्सामान्निध्याच्चिद्रूपतामिव  
प्राप्तं द्रष्टृ चिदुपरक्तं द्रष्टृविषयं भवति इन्द्रियादिद्वारा दृश्योपरक्तं  
तदाकारं भवति । तथा च भोग्यशब्दाद्याकारं सुखदुःखादि-  
परिणामलक्षणभोगात्मकं दृश्यमपि चित्तं चित्प्रातिविम्बाभेदा-  
दात्मेति भ्रमः सौगतानां युक्तः । चित्तस्य जपाकुसुमाद्यर्थाकार-  
ग्रहशीलाभिजातस्य स्फटिकमणिकल्पस्य दृश्याकारग्राहित्वा-  
च्चित्तातिरिक्तार्थो नास्तीति विज्ञानवादिनां भ्रमः । अत्रेत्यं  
विवेकः । चित्तस्य भोग्यत्वाद्भोक्ताऽन्यः स्वीकर्त्तव्यः स नित्योदिता  
चिच्छक्तिरित्युच्यते । द्विधा चिच्छक्तिः नित्योदिताऽभिव्यङ्गा  
चेति । तत्र नित्योदितायाः कूटस्थचिच्छक्तेः चित्तसत्त्वाभिव्यङ्गा  
चित्प्रातिविम्बरूपा सुखादिसारूप्यमापन्ना चिच्छक्तिर्भोग इत्युच्यते ।  
स द्विविधश्च भोगः चिदवसानतारूप एकः, परिणामलक्षणोऽपरः,  
तत्राभिव्यङ्गा चिच्छक्तिराद्यः पुरुषस्य भोगः, अपरः सुखादि-  
परिणामो बुद्धेः प्राप्तचेतन्याया इति । इत्थं बुद्धिपुरुषान्तरं विविच्य  
विध्वस्तसमस्तमलजालं निश्चलप्रदीपशिखाकारं समाहितं  
प्रशान्तवाहचित्तं पुरुषसत्तां निश्चिनोतीति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

इतश्च चित्तादन्यो भोक्ताऽस्तीत्याह :—

## तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्य कारित्वात् ॥ २४ ॥

यद्यपि क्लेशकर्मविपाकवासनाभिरनन्ताभिः सुखाद्याश्रय-  
तया भोक्तृकल्पं “चित्तं” तथाऽपि परस्य निरुपचरितचित्-  
स्वभावस्थार्थो भोगापवर्गो साधयतीति “परार्थं” भोग्यमेव न  
भोक्तेति यावत् । कुतः ? संहत्य देहेन्द्रियादिसहकारिभि-



र्मिलित्वा भोगादिकार्यकारित्वात्, यन्मिलित्वा कार्यकारि  
तत्परार्थं, यथा गृहादि, न हि स्तम्भादिभिः संहत्य गृहं स्वस्य  
वसतिं करोति किन्तु परस्मै विष्णुमित्राय । एवं गुणा अपि  
बुद्ध्यादिकं परार्थं कुर्वन्तीति युक्तम् अत एव पुरुषशेषत्वाद् गुणा  
उच्यन्ते । तथा च सत्त्वादयः परार्थाः संहत्य कारित्वाद् गृह-  
वदित्यस्य हेतोः पक्षधर्मतावत्त्वाद् गुणैरसंहतः शुद्धो निष्कलः  
स्वार्थश्चिन्मात्रपरः सिध्यति । यो यस्य भोक्ता स तेनासंहतो,  
यथा गृहस्वामीति व्याप्तेः गुणभोक्तुरपि परार्थत्वेऽनवस्थानात्  
“पुरुषान्न परं किञ्चित्” इति श्रुतेश्च । तस्माद्यस्य भोगापवर्गौ  
गुणमयबुद्ध्या कर्त्तव्यौ सुखदुःखाभ्यां योऽनुकूलनीयः प्रतिकूल-  
नीयश्च स भोक्ताऽस्तीति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इयता सूत्रजालेन जन्मादिसिद्धिं, चित्तेषु मोक्षयोग्यचित्तं  
निर्द्धार्य, कर्मवासनाप्रपञ्चपूर्वकं विज्ञानभिन्नार्थसाधनेन पर-  
लोकादिप्रपञ्चं परलोकिनं च भोक्तारं निरधारयद् । अधुना कैवल्यं  
निरूपयितुं तद् योग्यमधिकारिणं दर्शयति :—

**विशेषदर्शिना आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥**

पूर्वसुकृतबलात् कस्यचित्पुरुषधैरियस्यात्मभावे तत्त्वं  
भावना जिज्ञासा भवति काहं कस्य कुतो वेति तस्याधिका-  
कारिणः पूर्वोक्तविवेकेन बुद्धेरन्यश्चिन्मात्रः पुरुषोऽहमिति  
“विशेषदर्शिनः” तत्त्वजिज्ञासा विनिवर्त्तते, इच्छायाः स्वविषय-  
लाभनिवर्त्यत्वात् । यस्य तु नास्तिकस्य देहाद् बुद्धेर्वाऽन्यो भोक्ता  
नास्त्यन्यात्मन्यात्मभावना दार्ढ्यं सोऽनधिकारी, यस्तत्त्वजिज्ञासुः  
सोऽधिकारीति भावः ॥ २५ ॥

ननु तत्त्वजिज्ञासोर्विशेषदर्शनानन्तरं कीदृशं चित्तमित्यत आह :-

**तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥२६॥**

पूर्वं बुद्ध्यादावात्मभ्रमदशायां यच्चित्तं विषयनिम्नं संसार-  
प्राग्भारमासीत् तदिदानीं निवृत्तभ्रमस्य योगिन-“चित्तं”  
“विवेकनिम्नं” दृग्दृश्ययोर्भेदो विवेको निम्न आलम्बनभूमि-  
र्यस्य तद्विवेकनिष्ठमिति यावद् अत एव कैवल्यं प्राग्भारोऽवधि-  
र्यस्य तत् “कैवल्यप्राग्भारं” कैवल्यफलावसानं धर्ममेवाख्य-  
ध्यानरतं भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

नन्वीदृशस्य चित्तस्याहंममेतिव्युत्थानप्रत्ययाः कुतो भव-  
न्तीत्यत आह :—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

विवेकख्यातिरूपप्रसंख्यानपरस्यान्वहं क्षीयमाणेभ्यो  
व्युत्थानसंस्कारेभ्यः प्रसंख्यानच्छिद्रेषु अभिव्यक्तेभ्यः प्रत्ययान्त-  
राणि व्युत्थानरूपाणि भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

ननु सत्यपि प्रसंख्याने व्युत्थानसंस्काराः कार्य्यायोत्तिष्ठन्ति  
चेत्, कस्तेषां हानोपाय इत्यत आह :—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

अविद्यारागादिक्लेशाः क्रियायोगतनूकृताः तत्तत् अवसर-  
लब्धप्रसराः प्रसंख्यानदहनदग्धाः पुनश्चित्ते संस्कारं न प्रस्रवते ।  
एवं व्युत्थानसंस्कारा अपि विवेकख्यात्यपरिपाकदशायां  
प्रत्ययान्तराणि कुर्वाणाः परिपक्वप्रसंख्यानदहनदग्धात्मवीजभावा  
न प्रस्रवधर्माणो भवन्तीति “क्लेशवदेषां” “हानमुक्तं” वेदितव्य-  
मित्यर्थः ॥ २८ ॥

एवं प्रसंख्यानेन व्युत्थानस्य निरोधमुक्त्वा प्रसंख्यानस्यापि  
निर्वीजयोगापेक्षया व्युत्थानरूपस्य निरोधोपायमाह :—

प्रसंख्यानोऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेक-

ख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

षड्विंशतितत्त्वान्यालोचयतः सत्त्वगुरुष्वान्यताख्यातिर्या  
जायते सर्वाधिष्ठातृत्वाद्यवान्तरफला तत् प्रसंख्यानम्, तच्चापि  
“अकुसीदस्य” कुक्षितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागः तद्र-  
हितस्य सर्वात्मना विवेकख्यातिरेव सन्ततिरूपो “धर्ममेघसंज्ञः”  
“समाधिः” भवति । स च खलु अशुक्लकृष्णं धर्मं कैवल्यफलं  
मेहति सिञ्चतीति धर्ममेघ इत्युच्यते । प्रसंख्यानं वैराग्यात्  
धर्ममेघे सति परवैराग्योदयात् प्रसंख्यानस्य निरोधो भवतीति  
भावः ॥ २९ ॥

इमं क्रमं स्फुटयति :—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

“ततो” धर्ममेघात् क्लेशानां पञ्चानां सवासनानां तन्मूलान-  
कर्मणां च निवृत्तिः भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञे-

यमल्पम् ॥ ३१ ॥

आवृण्वन्ति चित्तमित्यावरणा रजस्तमोमयाः क्लेशकर्मरूप-  
मलाः सर्वे ते आवरणाश्च मलाश्च सर्वावरणमलाः तैः धर्ममेघ-  
धानेनापेतस्य “ज्ञानस्य” शुद्धबुद्ध्यालोकस्य “आनन्त्यात्” “ज्ञेयं”  
चेतनाचेतनात्मकं सर्वम् “अल्पम्” एव भवति, यथा शरदि  
अशेषघनादिमलापेते नभसि सर्वतः प्रद्योतमानप्रचण्डमार्त्तण्ड-  
प्रकाशपटले घटादयः प्रकाश्या अस्था भवन्ति तद्वदत्यन्तनिर्मलस्य  
बुद्धिसत्त्वस्य प्रकाशस्य किं नाम यन्न गोचर इति भावः । सेयं  
धर्ममेघस्य परा काष्ठा दर्शिता, अत एव धर्मा, न च ध्रियन्त

इति व्युत्पत्त्या । सर्वानिव ज्ञेयान् मेहति प्रकाशयत्यपि धर्ममेघ  
इत्याह, अयमेव हि धर्ममेघपरिपाको ज्ञानप्रसादः करतलीकृता-  
मलकवत्पुरुषं निर्दोषमपरोक्षीकुर्वन् निर्मलजलान्तर्मत्स्यानिव  
जडाविशुद्धप्रकृतिविकारदृश्यविषयान्तर्गताशुद्धिविनाशादिदोषान्  
प्रकटयन् चित्ततपस्विनो निर्वीजयोगाख्यनिधिमापादयन् पर-  
वैराग्यमित्युच्यते ॥ ३१ ॥

ननु इदं परवैराग्यं क्लेशान् समूलकाशं कषत् कुशलाकुशलांश्च  
कर्माशयान् समूलघातं निहन्तुमुत्सहतां, तथाऽपि गुणानां स्वतः  
परिणामशीलत्वात् तादृशमपि पुरुषं प्रति देहेन्द्रियाणि परिणाम-  
क्रमोऽनुवर्त्ततामिति तत्राह :—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिगुणानाम्॥३२॥

“ततो” धर्ममेघफलीभूतपरवैराग्यात्मकानन्तज्ञानानन्तरं  
गुणानां भोगविवेकख्यातिरूपपुरुषार्थकरणात् प्राग् यः परिणा-  
मानां महदादिघटान्तानां सृष्टावानुलोम्येन, प्रलये घटः पृथिव्यां  
लीयते; पृथिव्यप्सु; आपस्तेजसि; इत्यादि प्रातिलोम्येन, च क्रम  
आसीत् तस्य परिसमाप्तिरेव तं पुरुषं प्रति “गुणानां,” पुरुषार्थ-  
त्वादनागताध्वा हि पुरुषार्थो गुणानां प्रवर्त्तकस्तस्मिन् कृते  
गुणा न क्षणमपि स्थातुमुत्सहन्त इति भावः ॥ ३२ ॥

क्रमशब्दार्थमाह :—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

क्षणाः कलांशास्तेषु समाहितबुद्धिना क्रमो ज्ञेयः । तत्र  
“क्षणप्रतियोगी” “क्रम” इति स्वरूपनिर्देशः । क्षणौ प्रतियोगिनौ  
निरूपकौ यस्य स क्षणप्रतियोगो । एवं क्षणिकपरिणामक्रमो  
मन्तव्यः । तत्र प्रमाणमाह । “परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः” इति

सृदि, पिण्डघटकपालचूर्णकणानां प्रत्यक्षपरिणामानां पूर्वान्तः  
 पिण्ड अपरान्तः कण, इति पूर्वोत्तरावधिग्रहणेन क्रमो निश्चित्य  
 ग्राह्यो भवति, पिण्डानन्तरं घट इति क्रमोऽत्र प्रत्यक्षः ।  
 क्वचित् सुरक्षितवस्त्रादौ पुराणतादर्शनेन पूर्वान्तनवत्वपरिणाम-  
 मारभ्य क्षणे क्षणे पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलतर-  
 स्थूलतमत्वेन जायमानाया भेदं ज्ञात्वा नवत्वानन्तरं सूक्ष्मतम-  
 पुराणता तदनन्तरं सूक्ष्मतरपुराणतेति क्रमोऽनुमेय इत्यर्थः । नन्वयं  
 क्रमः किमनित्येष्वेवास्ति उत नित्येष्वपीति प्रश्नश्चेदस्ति नित्ये-  
 ष्वपीति वदामः । तत्र नित्या द्विविधाः । कूटस्थनित्याः  
 पुरुषाः, परिणामिनित्या गुणाः । यस्मिन् धर्मिणि धर्मलक्षणा-  
 वस्थाभिः परिणम्यमाने स्वरूपं न विहन्यते तत्परिणामिनित्यता  
 तत्रानित्येषु बुद्ध्यादिषु धर्मिषु रागादिपरिणामक्रमस्य पूर्वान्त-  
 भावेऽपि अपरान्तः पुरुषसाक्षात्कारोऽस्तीति क्रमः तेषु सावधिकः,  
 गुणेषु परिणामिनित्येषु परिणामक्रमो निरवधिकः, मुक्तपुरुषान्  
 प्रत्युपरमेऽपि बह्वान् प्रत्यविच्छेदात् । ननु सर्वे पुरुषा मुच्यन्ते  
 न वा ? आद्ये, प्रधाने परिणामः सावधिकः । द्वितीये, तत्त्वज्ञाना-  
 विश्वम्भ इति । तत्राहुः साङ्ग्याचार्याः । अस्ति त्रिविधः प्रश्नः ।  
 एकान्तवचनीयः, विभज्यवचनीयः, अवचनीयश्चेति । तत्राद्यो  
 यथा । किमयं सर्वजातो मरिष्यतीति प्रश्नः, स एकान्तेन वक्तव्यः  
 मरिष्यत्येवेति । त्वया कृतसु द्वितीयः, स विभज्य वक्तव्यः, यस्य  
 तत्त्वख्यातिः स मुच्यते नान्य इति । एवं च जन्तूनामान्व्यात्  
 पुराणादौ सर्गप्रलयानन्त्यश्रवणाच्च न सर्वमुक्तिः । तृतीयसु  
 प्रधानपरिणामक्रमः समाप्यते नवेति प्रश्नः । अयमुत्तरानर्हः,  
 अशक्यावधारणत्वात् । यद्वा, कुशलस्यान्तवान् संसारक्रमः  
 अकुशलस्य नेति व्याकरणीयोऽयं प्रश्न इति । तस्मात् सदा  
 परिणामिषु नित्येषु गुणेषु क्रमवत्परिणामभेदादस्ति क्रमः,

कूटस्थनित्येषु पुरुषेषु बुद्ध्यादिपरिणामभेदारोपात् कल्पितः  
क्रमो न वास्तव इति, सर्वमवदातम् ॥ ३३ ॥

अधुना शास्त्रप्रतिपाद्ययोगफलं कैवल्यं दर्शयति :—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं  
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

कृतभोगापवर्गाणां कृतकृत्यानां बुद्ध्यादि “गुणानां” प्राति-  
लोभ्येन प्रसवः व्युत्थानसमाधिपरवैराग्यसंस्कारा मनसि लीयन्ते,  
मनश्चास्मितायां लीयते, सा महति, महत्तत्त्वं गुणेष्विति  
प्रलयः तत् प्रधानस्य “कैवल्यं” पुरुषविशेष उपचर्यते । यद्वा,  
“चित्तिशक्तिः” चित्स्वभावा पुरुषव्यक्तिः स्वरूपमात्रेण प्रकर्षेण  
तिष्ठतीति “स्वरूपप्रतिष्ठा” पुनर्बुद्ध्याद्यनर्थनात्यन्तिकवियोग  
इति यावत् तदिदं पुरुषस्य नित्यस्य नित्यशुद्धासङ्गस्य प्रकाशस्य  
कैवल्यमिति रमणीयम् । सौत्र इतिशब्दः शास्त्रपरिसमाप्ति-  
दर्शनार्थः ॥ ३४ ॥

यद्वागप्रणवप्रपत्तिदहनः सद्योऽन्तरायाटवीं  
दग्ध्वा स्वात्मनि बोधदीपमचलं सूते तमःपाटनम् ।  
यत्र न्यस्तसमस्तकर्म जनयेद्योगं तदङ्गं विना  
वन्दे सिद्धिभुवं तमीशमनिशं कैवल्यदं राघवम् ॥ १ ॥

यत् प्रसादलवः सूते मोक्षाद्याः सर्वसम्पदः ।  
उमाधवं महेशानं तं काशीनिलयं भजे ॥ २ ॥

फणीन्द्रसूत्रसंबद्धा व्यासवाङ्मणिभूषिता ।  
महाङ् मौक्तिकी माला स्यात् सदा रामपादयोः ॥ ३ ॥

क्वाहं प्रमादनिरतः क्वा वात्सल्यं गुरोरिदम् ।

नूनं महात्मनां दीने स्वतश्चित्तं कृपाऽन्वितम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दानन्दभगवत्

पूज्यपादशिष्यश्रीरामानन्दसरस्वतीकृतौ सांख्य-

प्रवचने योगमणिप्रभायां कैवल्यपाद-

चतुर्थः समाप्तः ॥









